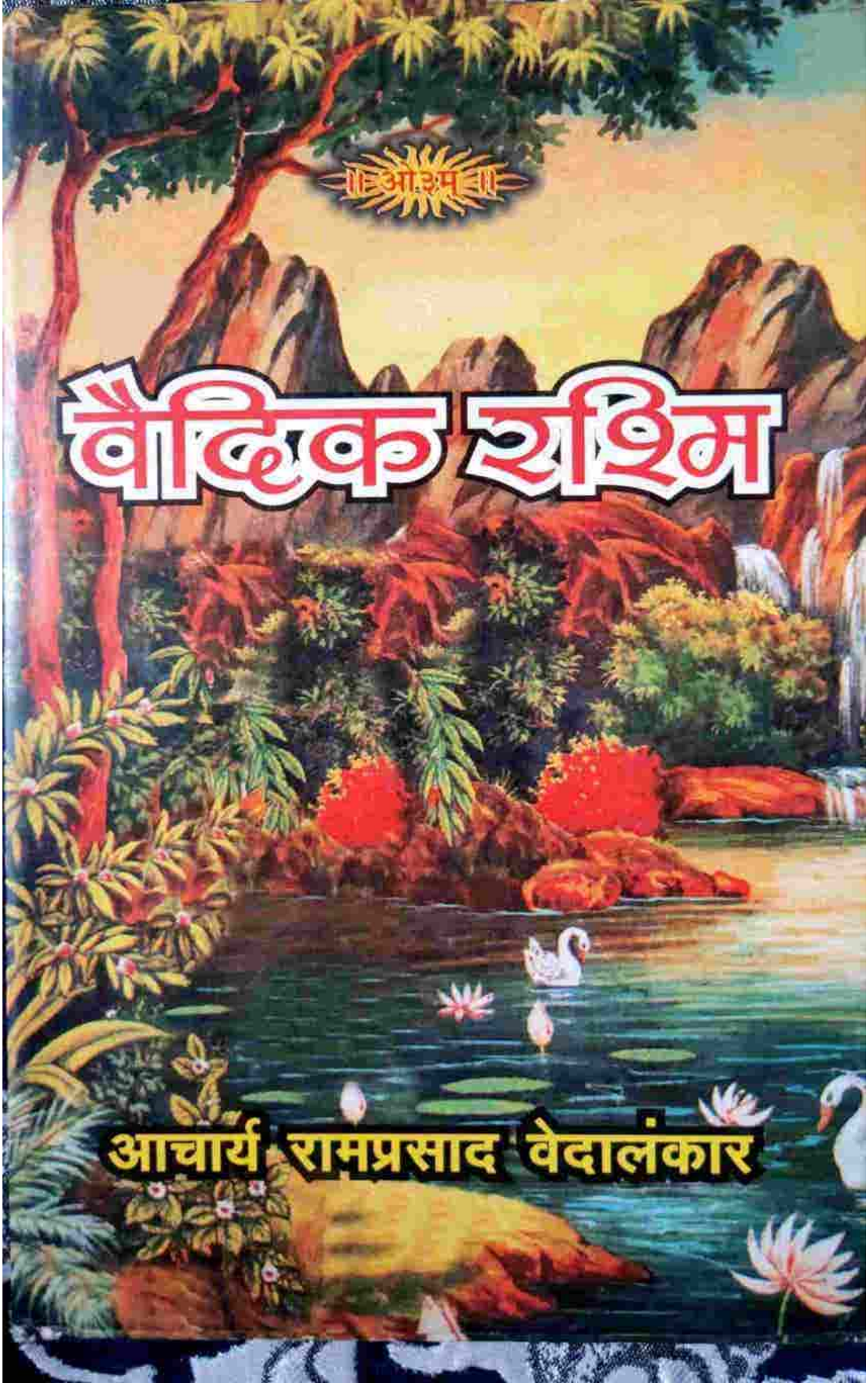
॥ ओ३म् ॥
वैदिक यज्ञ
आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार

ऋग्वेद ओ३म् यजुर्वेद

यहाँ पर आपको मिलेगी स्वाध्याय करने के लिए वैदिक, प्रेरक, ज्ञान वर्धक , क्रान्तिकारियों की जीवनी,ऐतिहासिक एवं आध्यात्मिक PDF पुस्तकें ।

वैदिक पुस्तकालय

डाउनलोड करने के लिए टेलीग्राम एप्लिकेशन मे वैदिक पुस्तकालय (@Vaidicpustakalay)सर्च करके चैनल को ज्वाइन करें।

सामवेद अथर्ववेद

॥ ओ३म्॥

[आर्यसमाज का साहित्य–१०५]
[स्वाध्याय ग्रन्थमाला का एकादश पुष्प]

वैदिक रश्मियाँ

लेखक :
प्रो० रामप्रसाद वेदालङ्कार, वेदरत्न
आचार्य एवम् उपकुलपति
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
५१२, वेदसदन, आर्यनगर, ज्वालापुर, हरिद्वार, (उ०प्र०)

सम्पादक :
आचार्य ब्र० नन्दकिशोर

प्रकाशक :
अनीता आर्ष प्रकाशन
५००/२, हलवाई हट्टा, पानीपत (हरयाणा)

प्रकाशक : लाला आदित्य प्रकाश आर्य
अनीता आर्ष प्रकाशन
५००/२, हलवाई हट्टा,
पानीपत (हरयाणा)
दूरभाष : ०१७४२–४०२९१

श्रद्धा साहित्य प्रकाशन
वेदसदन, आर्यनगर, ज्वालापुर (हरिद्वार)
पिन–२४९ ४०७
दूरभाष : ०१३३–४५४६६२

प्राप्ति स्थान : **विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द**
४४०८, नई सड़क, दिल्ली–११० ००६

संस्करण : प्रथम,
ऋषि बोधोत्सव, संवत् २०६०
सन् २००४

मूल्य : १००.०० रुपये

शब्द संयोजक : **भगवती लेज़र प्रिंट्स,**
ईस्ट ऑफ कैलाश, नई दिल्ली–११० ०६५

मुद्रक : **राधा प्रेस**
कैलाश नगर, दिल्ली–११० ०३१

समर्पण

जिस परम पिता परमात्मा की अपार अनुकम्पा एवं अपने पूजनीय गुरुजनों के उदार हृदय से प्रदान किये हुए ज्ञान और आशीर्वाद के आधार पर स्वाध्याय ग्रन्थमाला के अन्तर्गत ``अनीता आर्ष प्रकाशन'' द्वारा प्रकाशित

वैदिक रश्मियाँ

नामक यह पच्चीसवें पुष्प के १ से ५वें भाग वैदिक रश्मियाँ को मैं स्वाध्याय एवं सत्संग प्रेमी महानुभावों के करकमलों में प्रदान कर सका, उन्हीं के पावन चरणों में मेरा यह अल्प-प्रयास समर्पित है।

विनीत

–सरोज आर्या

धर्मपत्नी रामप्रसाद वेदालङ्कार

वेद
सब सत्य विद्याओं
का
पुस्तक है।
वेद का
पढ़ना-पढ़ाना
और
सुनना-सुनाना
सब आर्यों
का
परम धर्म है।
-महर्षि दयानन्द

दो शब्द

वैदिक रश्मियाँ भाग-१ में वैदिक आध्यात्मिक सूक्तियों को सरल-सुबोध रूप में अध्यात्म प्रेमी महानुभावों के लिये लिखा गया है प्रतिदिन वे इस पुस्तक की एक रश्मि प्रातःकाल सन्ध्योपासना के उपरान्त पढ़कर अपनी आत्मा को पवित्र करते हुए उस प्राणप्रिय प्रभु का सानिद्ध्य प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार से वैदिक रश्मियाँ पाँच भागों में पुस्तक के रूप में लिखी गई हैं, द्वितीय भाग में सामवेद के सूक्तियों पर प्रकाश डाला गया है, तृतीय भाग में यजुर्वेद के ४० वे अध्याय की कुछ सूक्तियों को लिखा गया है, इस अध्याय के प्रथम मन्त्र की ५ सूक्तियों पर ही कुछ प्रकाश डाला गया है। चतुर्थ भाग में अथर्ववेद के साम्मनस्य सूक्त ३.३० की कुछ सूक्तियों को वेदालंकार लिखते हैं कि मैं एम.ए. वेद के छात्रों के ऋग्वेद के वरुण सूक्त ७-८६ को पढ़ा रहा था। यह सूक्त मुझे पढ़ाते हुए बहुत अच्छा लगा। इनकी इच्छा थी कि इस सूक्त पर "भक्त और भगवान" नामक पुस्तक लिखूँगा, परन्तु व्यस्त होने के कारण लिख न सके। आशा है धर्म एवं स्वाध्याय प्रेमी महानुभावों को वैदिक रश्मियाँ पाचों भागों के स्वाध्याय से अवश्य लाभ होगा, ऐसी आशा करता हूँ।

विनीत
-आचार्य ब्र० नन्दकिशोर
कल्पतरू नेपाली फार्म
पो०-सत्यनारायण मन्दिर
जि०-देहरादून (उत्तरांचल)

मन्त्रानुक्रमणिका

विषय क्र०			पृष्ठ सं०
समर्पण			३
दो शब्द			५

वैदिक रश्मियाँ भाग—१

प्रथम रश्मि	:	अग्निमीळे	११
द्वितीय रश्मि	:	अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिःरीड्यो	१४
तृतीय रश्मि	:	अग्निना रयिमश्नवत्	१७
चतुर्थ रश्मि	:	देवो देवेभिरागमत्	२०
पञ्चम रश्मि	:	दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि	२२
षष्ठ रश्मि	:	अथा ते अन्तमानां विद्याम	२४
सप्तम रश्मि	:	स्यामिदिन्द्रस्य शर्मणि	२६
अष्टम रश्मि	:	स नो बन्धुर्जनिता	२८
नवम रश्मि	:	एकं एव नमस्यो	३२
दशम रश्मि	:	तमु ष्टवाम य इमा	३४
एकादश रश्मि	:	यजामे इन्नमसा	३७
द्वादश रश्मि	:	स न इन्द्रः शिवः	४०
त्रयोदश रश्मि	:	वयमिन्द्रं स्तवाम	४२
चतुर्दश रश्मि	:	आ त्वा रम्भं न जिव्रयो	४३
पञ्चदश रश्मि	:	त्वमस्माकं तव स्मसि	४६

वैदिक रश्मियाँ भाग—२

प्रथम रश्मि	:	अग्न आयाहि	५०
द्वितीय रश्मि	:	अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद्	५५
तृतीय रश्मि	:	अग्ने त्वां कामये गिरा	५९
चतुर्थ रश्मि	:	प्रेष्ठं वो अतिथिं स्तुषे	६१
पञ्चम रश्मि	:	अग्ने विवस्वदाभर	६४
षष्ठ रश्मि	:	अग्निर्नो वंसते रयिम्	७१
सप्तम रश्मि	:	अग्ने मृड	७४
अष्टम रश्मि	:	अग्ने रक्षाणो अंहसः	७८
नवम रश्मि	:	अग्निं नक्षन्तु नो गिरः	८२
दशम रश्मि	:	नि त्वामग्ने मनुर्दधे	८५

वैदिक रश्मियाँ भाग—३

प्रथम रश्मि	:	ईशावास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्च	९१
द्वितीय रश्मि	:	तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः	१००
तृतीय रश्मि	:	मा गृधः	११६
चतुर्थ रश्मि	:	कस्य स्विद् धनम्	१२४
पञ्चम रश्मि	:	मा गृधः कस्य स्विद्धनम्	१३३

वैदिक रश्मियाँ भाग–४

प्रथम रश्मि	:	सहृदयं सांम्मनस्यं	१४०
द्वितीय रश्मि	:	अविद्वेषं कृणोमि	१४९
तृतीय रश्मि	:	अन्यो अन्यमभिहर्यत	१५२
चतुर्थ रश्मि	:	अनुव्रतः पितुः पुत्रः	१५५
पञ्चम रश्मि	:	[पुत्रः] मात्रा भवतु	१५८
षष्ठ रश्मि	:	जाया पत्ये मधुमतीं	१६२
सप्तम रश्मि	:	मा भ्राता भ्रातरं	१६७
अष्टम रश्मि	:	मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्	१७५
नवम रश्मि	:	ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा	१८२
दशम रश्मि	:	अन्यो अन्यस्मै वल्गु	१९६

वैदिक रश्मियाँ भाग–५

प्रथम रश्मि	:	कदावन्तर्वरुणे भुवानि	२०४
द्वितीय रश्मि (i)	:	किं मे हव्यमहृणानो	२०९
द्वितीय रश्मि (ii)	:	किं मे हव्यमहृणानो	२१२
तृतीय रश्मि	:	कदा मृळीकं सुमना	२२०
चतुर्थ रश्मि	:	पृच्छे तदेनो वरुणो	२२५
पञ्चम रश्मि	:	किमाग आस वरुण	२२८
षष्ठ रश्मि	:	प्र तन्मे वोचो दूळभ	२३०
प्रथम रश्मि [ii]	:	कदान्ववेन्त भुवानि	२३४

(१)

वैदिक रश्मियाँ

प्रथम भाग

ईश्वर,
सच्चिदानन्दस्वरूप,
निराकार, सर्वशक्तिमान,
न्यायकारी, दयालु,
अजन्मा, अनन्त,
निर्विकार, अनादि,
अनुपम, सर्वाधार,
सर्वेश्वर, सर्वव्यापक,
सर्वान्तर्यामि, अजर,
अमर, अभय, नित्य,
पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है
उसी की उपासना
करनी योग्य है।

–महर्षि दयानन्द

प्रथम रश्मि

अग्निमीळे ॥ –ऋ० १.१.१

अर्थ–(**अग्निम् ईडे**) मैं अग्निस्वरूप–प्रकाशस्वरूप, ज्ञानस्वरूप परमेश्वर की स्तुति करता हूँ।

व्याख्या–(**ईडे**) मैं स्तुतता हूँ, मैं भजता हूँ, मैं पूजता हूँ, मैं उपासता हूँ, मैं आराधता हूँ। प्रश्न होता है, किस को?

उत्तर है–(**अग्निम्**) अग्नि को, प्रकाशस्वरूप प्रभु को, ज्ञानस्वरूप प्रभु को, तेजःस्वरूप परमेश्वर को।

मैं स्तुति करता हूँ, मैं स्तवन करता हूँ, मैं भजन करता हूँ, मैं पूजा करता हूँ, मैं उपासना करता हूँ, मैं साधना करता हूँ, मैं आराधना करता हूँ, और फिर यह सब–कुछ मैं बड़े दिल से करता हूँ, हृदय की टीस से करता हूँ, आन्तरिक चाहना से करता हूँ।

यह सब मैं क्यों करता हूँ? इसलिए करता हूँ कि वह प्रभु मुझे बहुत प्यारा लगता है, वह मुझे प्यारा ही नहीं वरन् सब जग से न्यारा भी लगता है, वह मुझे अलौकिक लगता है, अनोखा लगता है, दिव्य लगता है, अनुपम लगता है।

वह मुझे प्यारा क्यों लगता है, सब जग से न्यारा क्यों लगता है, अनुपम क्यों लगता है, दिव्य क्यों लगता है। इसलिए कि वह अग्निस्वरूप है, प्रकाशस्वरूप है, ज्योतिस्वरूप है, तेजःस्वरूप है, ओजःस्वरूप हैं, ज्ञानस्वरूप है। वह ऐसा अग्नि स्वरूप है कि यह अग्नि विद्युत, चन्द्र, सूर्य आदि तो उसके सम्मुख कुछ भी नहीं है। वह ऐसा प्रकाशस्वरूप है कि इस अग्नि, विद्युत, चन्द्र, सूर्य का प्रकाश तो उसके सम्मुख कुछ भी नहीं है। वह ऐसा तेजः है कि इस अग्नि, विद्युत, चन्द्र, सूर्य आदि का तेज तो उसके सम्मुख कुछ भी तो नहीं है। वह ऐसा ओजःस्वरूप है कि इस अग्नि, विद्युत, सूर्य आदि का ओज तो उसके सम्मुख कुछ भी तो नहीं है। वह ऐसे ज्ञान–विज्ञान की खान है कि हम सब का ज्ञान–विज्ञान तो उसके सम्मुख कुछ भी

तो नहीं है। उस में जो प्रकाश है, तेजः है, ओजः है, वह तो ऐसा है कि सारे संसार के इन मानवों की वा अन्य सिंह आदि की भी बात ही क्या कहें ये अग्नि, विद्युत, सूर्य आदि के तेज आदि भी उसके सम्मुख फीके पड़ जाते हैं। सच पूछो तो इस संसार के भी इन अग्नि, विद्युत, चन्द्र, सूर्य आदि पदार्थों में जो ज्योति है, जो प्रकाश है, जो तेज है, जो ओजः है वह सब भी मेरे प्यारे और सब जग से न्यारे प्राण प्रिय प्रभु के कारण से ही तो है। अपने ज्ञान-विज्ञान के प्रकाश से जो सारे संसार को चकित कर देते हैं, अपने तेज और बल से जो सारे संसार पर छा जाते हैं, अपने ओज-पराक्रम से जो जगत् को पराभूत कर देते हैं, अपनी कान्ति एवं क्रान्ति से जो संसार को अभिभूत कर देते हैं, ऐसे महान् व्यक्तियों की पीठ पर भी तो हमें वह दिव्य देव दिखाई देता है। इसीलिए ही तो उस अपने प्यारे और सब जग से न्यारे प्रभु को इतनी श्रद्धा और उत्साह से मैं भजता हूँ।

सच पूछो तो वह मुझे बहुत भाता है, वह मुझे बहुत सुहाता है, वह मुझे बहुत ही प्यारा लगता है। मेरे उस प्यारे प्रभु देव में एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह स्वयं किसी के रंग में नहीं रंगता, वह स्वयं किसी के ढ़ंग में नहीं ढलता, वह स्वयं किसी के रूप में नहीं बदलता, हाँ जो उसके सम्पर्क में आ जाता है, जो उसके सान्निध्य में आ जाता है, जो उसके प्रेमपाश में बन्ध जाता है, वह अवश्य उसके रंग में रंग जाता है, वह अवश्य उसके ढंग में ढल जाता है, वह अवश्य उसके संग से सम्भल जाता है, वह अवश्य उसके रूप में बदल जाता है। ऐसे जैसे कि इस अग्नि के सम्पर्क में आकर प्रत्येक पदार्थ अग्निरूप हो जाता है, तेजोरूप हो जाता है, ओजोरूप हो जाता है। संसार में यदि कोई झूठा-मिथ्याभाषी, दुर्भाषी, अपभाषी, व्यर्थभाषी वा दुर्दृष्टि, कामी, क्रोधी, लोभी, मोही, अहंकारी, ईर्ष्यालु आदि ज्यों-ज्यों उसके सम्पर्क में आता है तो तब वह मेरा प्यारा अग्नि देव-ज्ञान प्रकाशरूप प्रभु देव उसके रंग में रंग कर, उसके ढंग में ढलकर कामी क्रोधी आदि नहीं बनता वरन् वह व्यक्ति ही उस प्रभु के सम्पर्क में आकर सत्यभाषी, सुभाषी मधुरभाषी, यथार्थभाषी, मितभाषी, सुदृष्टि निर्लेप, निष्कामी,

शान्त और तृप्त आदि होकर काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार ईर्ष्या-द्वेष से धीरे-धीरे ऊपर उठ जाता है। सच कहा जाये तो वह मेरा प्रभु इतना निराला है कि उसके सम्पर्क में जो आ जाता है वह भी तब उसी के समान ज्योति से ज्योतिर्मय हुआ-हुआ, उसी के समान प्रकाश से प्रकाशमय हुआ-हुआ, उसी के समान तेज से तेजोरूप हुआ-हुआ, उसी के समान शान्त, तृप्त-सा हुआ-हुआ वह अन्य सबको भी अपने सम्पर्क से उस प्रभु प्रदत्त ज्ञान, प्रकाश, तेज और शान्ति वा तृप्ति आदि से ज्योतिर्मय, प्रकाशमय, ज्ञानमय, तेजोमय, ओजोमय शान्त और तृप्त करता हुआ तब बड़ा ही सरल सौम्य शान्त तृप्त प्यारा और जग से कुछ न्यारा-सा लगने लगता है। तब वह सब को भाने भी लगता है। तब अन्य सब उसके प्रति श्रद्धा पूर्वक नतमस्तक होने में बड़ा ही सुख-सा अनुभव करने लगते हैं, बड़ी ही तृप्ति-सी अनुभव करने लगते हैं।

मैं अपने परम प्रिय प्रकाशमय, ज्ञानस्वरूप अनुपम दिव्य देव की इसीलिए ही तो स्तुति-प्रार्थना और उपासना करता हूँ कि मैं भी उसी के दिव्य अनुपम संग से उसके रंग में रंग कर उसके ढंग में ढल कर किसी दिन वैसा ही बन जाऊँ और अपने क्षेत्रानुसार सब को उसी के समान स्नेह दे सकूँ, प्यार दे सकूँ, प्रकाश दे सकूँ, ज्ञान दे सकूँ, तेज दे सकूँ, ओज दे सकूँ, सुख दे सकूँ, शान्ति दे सकूँ, आनन्द दे सकूँ।

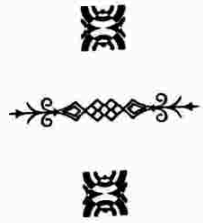

द्वितीय रश्मि

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिःरीड्यो नूतनैरुत। –ऋ० १.१.२
(अग्निः पूर्वेभिः ऋषिभि ईड्यः उत नूतनैः (ईड्यः))

वह अग्निस्वरूप, ज्योतिस्वरूप, प्रकाशस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, अग्रणी परम प्रभु पूर्व के ऋषि मुनि सन्त महात्माओं का स्तुत्य रहा है और नूतन–नवीन आगे आने वाले ऋषि–मुनि, सन्त–महात्माओं का स्तुत्य रहेगा।

उस अग्निस्वरूप, ज्योतिस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, तेजस्वरूप, ओजः–स्वरूप प्रभु की मैं स्तुति करता हूँ, प्रशंसा करता हूँ, पूजा करता हूँ, उपासना करता हूँ, आराधना करता हूँ। प्रथम तो मैं यही समझता रहा कि केवल मैं ही उसकी स्तुति करता हूँ और यह समझ कर ही मैं अपने को ही अन्य सब की अपेक्षा कुछ विशेष मानने लगा, कुछ उत्तम मानने लगा, और ऐसा मानने पर मुझे कुछ अभिमान भी होने लगा, कुछ अहंकार भी होने लगा, परन्तु बहुत ही शीघ्र मुझे यह ज्ञात होने लगा कि जिस की मैं स्तुति–प्रार्थना और उपासना करता हूँ वह तो पूर्व के बीते हुए युग–युगान्तरों के ऋषि–मुनि, सन्त–महात्मा, भक्त और उपासकों का भी पूज्य रहा है, स्तुत्य रहा है। अर्थात् वे सब भी जी–जान से बड़ी श्रद्धा भक्ति से अपने–अपने समयों में उस महान् परमेश्वर की, उस जगत् के रचयिता जगदीश्वर की स्तुति करते रहे हैं, प्रशंसा करते रहे हैं, पूजा करते रहे हैं, आराधना करते रहे हैं, उपासना करते रहे हैं, ध्यान, भजन और पूजा करते रहे हैं, और इसके परिणाम स्वरूप ही वे उस प्रभु की अनुपम ज्योति से ज्योतिर्मय होते रहे हैं, उसके अनुपम प्रकाश से प्रकाशमान होते रहे हैं, उसके दिव्य ज्ञान से सच्चे ज्ञानी बनते रहे हैं, उसके दिव्य तेज से तेजस्वी एवं दिव्य ओजः से ओजोस्वी होते रहे हैं। इतना ही नहीं कि वे यह सब होकर आराम से बैठ गए हों वरन् वे अन्य सभी को भी प्रभु के प्रकाश से प्रकाशमय, प्रभु के ज्ञान से ज्ञानमय, प्रभु के तेज से तेजोमय, प्रभु के ओज से ओजोमय करने का हार्दिक प्रयास

करते रहे हैं, तथा जो कुछ भी उस प्रभु के संग से वे पाते रहे हैं, वही सब कुछ दिल खोल कर वे बाँटते रहे हैं, भेद–भाव रहित होकर वे वितरित करते रहे हैं।

यह सब देख–सुन वा जान कर मुझको बहुत प्रसन्नता हुई कि–''वह मेरा प्राणों से प्यारा प्रभु मेरा ही नहीं वरन् बीते हुए युगों में सहस्रों का, सहस्रों का ही नहीं वरन् अनन्त प्राणियों का सदा स्तुत्य रहा है, पूज्य रहा है, उपास्य रहा है, आराध्य रहा है।'' इससे मुझे प्रसन्नता ही नहीं वरन् मेरा अभिमान भी बहुत कुछ झड़ गया। यह सोच कर कि मैं ही केवल ऐसा नहीं हूँ वरन् इस विषय में मुझ से भी बहुत बड़े–बड़े महान् पुरुष साधक, अराधक, उपासक, योगी, तपस्वी, ऋषि–महर्षि, पतञ्जलि, व्यास, गुरु विरजानन्द, महर्षि दयानन्द, श्रीराम, श्रीकृष्ण, रामतीर्थ आदि–आदि सब हो चुके हैं जिनके सम्मुख मेरी कुछ गिनती भी नहीं है। तब मैं अभिमान के झड़ जाने से पर्याप्त हल्का हो गया हूँ।

इतना ही नहीं मुझे और भी प्रसन्नता तब हुई जब कि मैंने यह जाना कि वह अग्निस्वरूप प्रभु तो ऐसा है कि वह केवल पूर्व के अर्थात् भूतकाल के ऋषि–मुनि, सन्त–महात्माओं, उपासकों का ही पूज्य–उपास्य–आराध्य देव नहीं रहा है और न ही वर्त्तमानकाल मात्र वालों का वह उपास्य देव है बल्कि वह तो आगे आने वाले अर्थात् नूतन–नवीन भविष्य के गर्भ में छिपे हुए ऋषि–मुनि, सन्त–महात्माओं का भी उपास्य देव रहेगा, उनके लिए भी ज्योतिस्तम्भ–प्रकाशस्तम्भ बनकर उन्हें भी सतत् अपना ज्ञान–प्रकाश प्रदान करता हुआ उन्हें भी सदा गर्त में गिरने से और ठोकर खाने से बचाता रहेगा, तथा सन्मार्ग पर निरन्तर अग्रसर करता हुआ उन्हें ऊँचा उठाता और आगे बढ़ाता रहेगा। अतः वह उन सब का भी ऐसा ही आराध्य देव बना रहेगा।

यह सब जान–बूझकर, सोच–विचार कर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई कि मैं इस दृष्टि से भूत और भविष्यत के स्तोताओं को, उपासकों को, आराधकों को, साधकों को जोड़ने की एक कड़ी हूँ। इसलिए मुझे अब भूत के अनुभवी स्तोताओं, साधकों, उपासकों, आराधकों, भक्तों के अनुभवों को प्राप्त कर और भी

लगन से, श्रद्धा–भक्ति से उस अपने प्यारे और सब जग से न्यारे प्रभु की पूजा करनी है, आराधना करनी है साधना करनी है, ताकि इस से जहाँ मुझे इस दिशा में और भी ऊँचा उठने और आगे बढ़ने की शक्ति मिले वहाँ मुझ से अन्यों को भी अर्थात् आगे आने वाले साधकों–उपासकों को भी दिशा मिले–राह–मिले, ताकि वे भी इस राह में कहीं गुमराह न हों, इस पथ पर कहीं भटकें नहीं, कहीं अटकें नहीं, कहीं लटकें नहीं, वरन् सहज सीधे लक्ष्य की ओर अग्रसर होते हुए वह सब–कुछ पा जायें जिस की कि उनकी आत्मा को भूख है, जिसकी कि उन्हें वास्तव में तलाश है।

तृतीय रश्मि

अग्निना रयिमश्नवत्। –ऋ० १.१.३

अन्वयार्थः–स्तोता (अग्निना) अग्निस्वरूप प्रभु से **(रयिम्)** ऐश्वर्य को **(अश्नवत्)** प्राप्त करे।

(१) स्तोता को चाहिये, भक्त को चाहिये, उपासक को चाहिये कि वह प्रकाशस्वरूप परमेश्वर के ज्ञानप्रकाश में विद्यमान रहता हुआ ही ऐश्वर्य को प्राप्त करे। क्योंकि उस पावन परमेश्वर के नेतृत्य में यदि वह वर्त्तमान रहता हुआ* रयि–ऐश्वर्य–धन–वैभव अर्जित करता है तो वही ऐश्वर्य ही वास्तव में सच्चा ऐश्वर्य हो सकता है। वही ऐश्वर्य ही वास्तव में उसको दिन–प्रतिदिन पुष्ट–परिपुष्ट कर सकता है, वही धन–वैभव ही वास्तव में उसको अभ्युदय और निःश्रेयस का पात्र बना सकता है, वही सम्पत्ति ही वास्तव में उसको शरीर से सब प्रकार से सुखी, मन से शान्त और आत्मा से तृप्त कर सकती है।

उपर्युक्त मन्त्रांश से यह स्पष्ट होता है कि प्रभु के सच्चे भक्त को, सच्चे उपासक को, सच्चे आराधक को, सच्चे साधक को अर्थ–शुचि की ओर विशेष ध्यान देना चाहिये। मनु महाराज भी मनुस्मृति में लिखते हैं–

सर्वेषामेव शौचनामर्थ शौचं परंमस्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारि शुचिः शुचिः॥
–मनु० ५–१०६

सब प्रकार की शुद्धियों में, सब प्रकार की पवित्रताओं में अर्थ–शुचि–धन की शुद्धि (न्यायोपार्जित धन का होना) ही परम शुद्धि कही गयी है। इसलिये जो अर्थ में शुद्ध है, जो धन के विषय में शुद्ध है अर्थात् जिसने छल, कपट, झूठ वा अन्याय से धन नहीं प्राप्त किया, वही शुद्ध है, वही पवित्र है। जो केवल

---

* रयिरिति धननाम (निघं० २–१०)
सवेषामेव शौचानामर्थशौच परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारि शुचिः शुचिः॥

मिट्टी जल, साबुन आदि से शुद्ध है, वह शुद्ध नहीं है। इस प्रकार मनु जी के अनुसार भी सब प्रकार की शुद्धियों में, सब प्रकार की पवित्रताओं में अर्थ–शुद्धि–धन की शुद्धि सर्वोपरि है।

वेद तो इससे और भी आगे बढ़कर कहता है–वह यह कि "उपासक को चाहिये कि वह उस प्रकाशस्वरूप प्रभु के ज्ञान–प्रकाश में विद्यमान रहता हुआ अर्थ का उपार्जन करे। इस प्रकार उस प्रभु की सत्प्रेरणा एवं उसकी वेदाज्ञा के अनुसार जब वह अर्थ का उपार्जन करेगा, जब वह धन–वैभव को प्राप्त करेगा तो तब निश्चय ही वह अर्थ धन–वैभव उसके यश को मान–सम्मान को भी बढ़ाता रहेगा, उसके शरीर को सुखी और पुष्ट भी करता रहेगा, उसके मन को भी निरन्तर शान्त–सन्तुष्ट रखता रहेगा, और उसकी आत्मा को भी सदा तृप्त करता रहेगा। तात्पर्य यह है कि ऐसा पावन धन–वैभव उस मानव को जहाँ लोक में ऊपर उठायेगा, आगे बढ़ायेगा अर्थात् सुख–सौभाग्य का, यश एवं प्यार का भागी बनायेगा वहाँ वह उसे निःश्रेयस–आत्मानन्द का भी भाजन बनायेगा। अतः उपासक को चाहिये, साधक को चाहिये कि वह अर्थ–शुचि पर विशेष बल दे। वह सदा यह विचार करे कि जो अर्थ हमारे पास आ रहा है, क्या वह वेदों के अनुरूप है या नहीं ? उसके प्राप्त करने के लिये हमारी आत्मा हमें आज्ञा देती है या नहीं ? इत्यादि। यदि मनुष्य सच्चे हृदय से ऐसा करता रहेगा और इसके अनुसार जो वेदाज्ञा एवं भीतर की सत्प्रेरणा के आधार पर ग्राह्य होगा उसे ही वह स्वीकार करता रहेगा तथा जिसके लिये वेद आज्ञा नहीं देता और न ही अपनी आत्मा स्वीकृति देती है, ऐसे बड़े–से–बड़े वैभव को भी जब मनुष्य लात मारता रहेगा तो फिर निःसन्देह उस मानव की स्तुति में, प्रार्थना में, उपासना में, आराधना में, साधना में विशेष प्रगति होगी और फिर शनैः–शनैः उससे उस मानव की सद्गति भी होगी। अथवा–

(२) (**अग्निना रयिम् अश्नवत्**)–उपासक उस ज्ञानस्वरूप प्रकाशस्वरूप प्रभु की स्तुति–प्रार्थना–उपासना द्वारा उस प्यारे प्रभु से वह अनुपम ऐश्वर्य प्राप्त करे, वह दिव्य धन पा जाये जो कि उसे दिन–प्रति–दिन निरन्तर निर्वैर, निर्लोभ, निर्मोह, निरहंकार, निश्छल, निष्कपट, स्वच्छ, सरल और सौम्य बनाता

जाये ताकि उसको जहाँ इस लोक में सर्वत्र स्नेह–सम्मान मिले, सर्वत्र यश और कीर्त्ति मिले वहाँ वह निरन्तर मनोबल आत्मबल से युक्त होकर प्रभुवर से वह सब कुछ भी पा सके जिस के पाने पर फिर कुछ पाने को शेष नहीं रह जाता, वह सब कुछ भी जान सके जिस के जानने के उपरान्त फिर कुछ जानने को शेष नहीं रहता।

वैदिक पुस्तकालय

चतुर्थ रश्मि

देवो देवेभिरागमत्। –ऋ० १.१.५

अन्वयार्थः–वह (देवः) अग्निस्वरूप–प्रकाशस्वरूप–ज्ञानस्वरूप प्रभुदेव (**देवेभिः आगमत्**) दिव्य गुणों के द्वारा प्राप्त होता है वा हमारे भीतर अपने दिव्य गुणों के साथ अभि–व्यक्त होता है।

व्याख्या–वह अग्निरूप, वह ज्ञानस्वरूप, वह प्रकाशस्वरूप दिव्य देव[1] आता है, हमें प्राप्त होता है, हमारे अनुभव में आता है, हमारे साक्षात्कार का विषय बनता है, हमारी तृप्ति, हमारे आनन्द का कारण बनता है। परन्तु वह दिव्य देव (**देवेभिः आगमत्**) दिव्य गुणों के द्वारा आता है, दिव्य कर्मों के द्वारा आता है, दिव्य स्वभावों के द्वारा आता है। इसलिये यदि कोई स्तोता–भक्त–उपासक हृदय से यह चाहता है कि वह दिव्य देव आए, उसका उसे साक्षात्कार हो, उसका उसे साक्षात् अनुभव हो, तो उसे चाहिये कि वह अपने गुण–कर्म–स्वभावों को दिव्य बनाए, वह अपने सोचने–विचारने, रहने–सहने, खाने–पीने, बैठने–उठने, चलने–फिरने, सोने–जागने, पढ़ने–लिखने, कहीं जाने–आने, देने–लेने आदि–आदि सर्व कर्मों को, सब व्यवहारों को दिव्य बनाए, अनुपम बनाए, अलौकिक बनाए अर्थात् पवित्र बनाए।

सचमुच जिस दिन यह साधक अपने विचारों को दिव्य बना लेगा, अपने व्यवहारों को उत्तम बना लेगा तो निःसन्देह उस समय तब यह अन्य सामान्य जनों से बहुत ऊपर उठ जायेगा, बहुत आगे बढ़ जायेगा। उस समय जब ऐसा व्यक्ति कुछ विचारेगा तो तब वह ऐसा लगेगा जैसे कि कोई देव (देवता) कुछ विचार कर रहा हो, जब वह कुछ पढ़ेगा–लिखेगा तो ऐसा लगेगा जैसे कि कोई देव पढ़–लिख रहा हो, जब वह

१. सर्वव्यापक होने से वह कहीं आता–जाता नहीं, पर समझाने के लिये ऐसा कहा जाता है। अतः उसके आने का अर्थ–"अनुभव में आना" समझना चाहिये।

कुछ बोलेगा तो ऐसा लगेगा जैसे कि कोई देव बोल रहा हो, जब वह कहीं बैठेगा तो वह ऐसा लगेगा जैसे कि कोई देव बैठा हो, जब वह कहीं चलेगा तो ऐसा लगेगा जैसे कि कोई देव चल रहा हो, जब वह देखेगा तो ऐसा लगेगा जैसे कि कोई देव देख रहा हो, जब वह कुछ खायेगा तो ऐसा लगेगा कि जैसे कोई देव खा रहा हो। तात्पर्य यह है कि जब वह कोई भी कार्य करेगा तो वह ऐसा प्रतीत होगा जैसे कि कोई देव–देवता ही वह कार्य कर रहा हो, या यों कह लीजिये कि तब उसके सर्वविध आचार–व्यवहारों से देवत्व टपकने लगेगा।

इस प्रकार जब उसके जीवन के सर्वविध व्यवहारों से देवत्व प्रस्रवित होने लगेगा, अर्थात् जब वह सब प्रकार के स्वार्थों से ऊपर उठ जायेगा तो फिर (**देवः आगमत्**) वह दिव्य गुणों का भण्डार प्यारा परम देव परमात्मा आयेगा। अर्थात् उस साधक को, उस उपासक को उसका साक्षात्कार होने लगेगा, उसका साक्षात् दर्शन होने लगेगा, उसका साक्षात् अनुभव होने लगेगा।

ऐसा दिव्य देव जब आता है तो वह (**देवेभिः [सह] आगमत्**) अपने दिव्य गुणों के साथ आता है। ऐसे दिव्य गुण–कर्म–स्वभावों के धनी परम देव परमात्मा का जब साधक को साक्षात् होने लगता है तो उस प्रभु के दिव्य गुण–कर्म–स्वभावों के साथ उसको उसका साक्षात् होता है। उस समय वह उस प्रभु में, उसके दिव्य गुण–कर्म–स्वभावों में ऐसा समर्पित हो जाता है कि फिर वह भी ब्रह्मविद् होकर ब्रह्मवत् प्रतीत होने लगता है। अर्थात् वह भी तब उस प्रभु के रंग में रंगा हुआ, उस प्रभु के ढंग में ढला हुआ ऐसा तेजोमय, ओजोमय, प्रकाशमय, ज्योतिर्मय, आनन्दमय प्रतीत होने लगता है, जैसा कि इस अग्नि में समर्पित हुआ–हुआ कोयला वा लोहा तेजोमय, ओजोमय, प्रकाशमय, ज्योतिर्मय हुआ–हुआ भासता है।

पञ्चम रश्मि

दा॒शुषे॑ त्वमग्ने॒ भ॒द्रं क॒रि॒ष्यसि। –ऋ० १.१.६

अन्वयार्थः–(**अग्ने दा॒शुषे॑ त्वं भ॒द्रं क॒रि॒ष्यसि**) हे प्रभो! तू दानी का भला करता है, तू समर्पित का कल्याण करता है।

व्याख्या–(**अग्ने**) हे प्रकाशस्वरूप प्रभो! हे ज्ञानस्वरूप जगदीश्वर! (**दा॒शुषे॑ त्वं भ॒द्रं क॒रि॒ष्यसि**) जो दाश्वान् है, जो दानशील है, जिसका सदा दान करने का स्वभाव बन गया है, जो अपने तन, मन, धन को प्रायः परोपकार में लगाता रहता है, ऐसे दानी परोपकारी सर्वहितकारी मानव का तू सब प्रकार से भला करता है, कल्याण करता है।

यह जो दाश्वान् होता है, परोपकारी होता है, वह इस जगत् में जो आयु अनुभव एवं ज्ञान आदि से वृद्ध होते हैं, उनकी तन–मन–धन से सेवा करता है, शुश्रूषा करता है, उनका मान–सम्मान करता है। जो उसके समान होते हैं अर्थात् आयु, अनुभव, ज्ञान, शक्ति आदि से जो उसके तुल्य होते हैं, जो उसके बराबर होते हैं, कभी समय पड़ने पर ऐसे सखा–मित्र, बन्धु–बान्धवों को भी जो हृदय से स्नेह देता है, सहानुभूति देता है, सहयोग देता है, सहायता देता है, सहारा देता है, तथा जो आयु से छोटे होते हैं, जो अनुभव से छोटे होते हैं, ज्ञान से छोटे होते हैं, जो शक्ति से हीन होते हैं, जो धन, अन्न, वस्त्र आदि साधनों के अभाव में सदा पीड़ित रहते हैं, जो रोगी होते हैं, जो रोगी होकर स्नेह, दया, सहानुभुति, सान्त्वना और औषध आदि के लिए तरस रहे होते हैं, ऐसे दीन–हीन–दुर्बल–अशक्त–असहाय जनों के दुःख–दर्द को जो सुनता है, उनकी आपत्ति, विपत्तियों को जो देखता है, और फिर जो उन्हें स्नेह देता है, सहानुभूति देता है, औषध देता है, अन्न देता है, धन देता है, वस्त्र देता है, धीरज देता है, सान्त्वना देता है, एवं उन्हें यथा–शक्ति नीरोग–स्वस्थ–सशक्त कर सब प्रकार से ऊपर उठाने, और आगे बढ़ाने और सुखी करने का जो हार्दिक प्रयास करता है, ऐसे कोमल सरल दयालु हृदय वाले दानी

परोपकारी दिव्य जन का, हे प्यारे और सब जग से न्यारे प्रभुवर! आप सब प्रकार से भला करते हैं। अर्थात् उसको सब प्रकार से आप सुख–सौभाग्यों से सम्पन्न करते हैं, उसे आप सब प्रकार से धन, अन्न, बल, पशु, प्रजा, घर, परिवार आदि सर्वविध ऐश्वर्यों से सम्पन्न करते हैं।

२. (**अग्ने! दा॒शुषे॑ त्वं भ॒द्रं क॒रि॒ष्यसि**) हे ज्ञान–प्रकाश के अनुपम स्रोत प्रभुवर! जो इस जगत् में दाश्वान् हो, दानशील हो, देने का जिसका स्वभाव बन गया हो। फिर धन, अन्न, वस्त्र आदि ही नहीं वरन् जिसने तेरे प्रति सब प्रकार से अपने आप को भी अर्पण कर दिया हो। और पूर्णतया आप के प्रति समर्पित हो जाने पर अब वह जो कुछ भी करता हो वह सब आप की ही प्रेरणा के अनुरूप करता हो, सब आप की ही आज्ञानुसार करता हो, उसे चाहे कहीं उठना हो, कहीं सोना हो, कहीं ठहरना हो, कहीं खाना हो, कहीं पीना हो, किसी से मिलना हो, किसी से बात करनी हो, किसी को कुछ देना हो, किसी से कुछ लेना हो, किसी को कुछ खिलाना–पिलाना हो, किसी से कुछ खाना–पीना हो, किसी को कुछ स्नेह–सम्मान देना हो, किसी की कुछ सेवा करनी हो, किसी से कुछ स्नेह, सम्मान पाना हो, किसी से कुछ सेवा–शुश्रूषा पानी हो, इत्यादि कुछ भी कार्य क्यों न हो, वह सब प्रकार से आप की ही प्रेरणा के अनुरूप–आज्ञा के अनुरूप करता हो, ऐसे सब प्रकार से हृदय से समर्पित उपासक का आप पूर्णतया भद्र करते हैं, पूर्णतया कल्याण करते हैं, अर्थात् उसको सब प्रकार से आप निहाल करते हैं, उसको सब प्रकार से आप आनन्द विभोर करते हैं। वह भी ऐसे करते हैं कि फिर वह सब प्रकार से तृप्त हो जाता है, सब प्रकार से पूर्ण काम बन जाता है।

२. करिष्यसि–करोषि। अत्र वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्तीति लङ र्थे लृट। १ **दाशुषे**। दाशृ दाने+क्वसु–दाश्वान्–दाशुषे–चतुर्थी एक वचन।

षष्ठ रश्मि

अथा ते अन्तमानां विद्याम सुमतीनाम्। –ऋ० १.४.३

हे प्रभो! तेरे निकटतम बसने वाले सत्पुरुषों के सहयोग से हम तुम्हें जानें।

अन्वयार्थः–हे परमेश्वर! **(अथ ते अन्तमानां सुमतीनां विद्याम)** अब हम तेरे अत्यन्त समीपवर्ती श्रेष्ठ बुद्धि वाले महापुरुषों के मध्य में रह–रह कर तुझ को जानें।

व्याख्या–हे प्रभो! जिस परमेश्वर को जानने की हम में अभिलाषा है, जिस प्यारे प्रभु का साक्षात्कार करने की हम में चाहना है, जिस अद्वितीय परब्रह्म परमेश्वर का अनुभव प्राप्त करने की हम में अत्यन्त लालसा है, हमें चाहिये कि उसके लिये हम उन महापुरुषों का संग करें जो मतिमान् हों, जो बुद्धिमान् हों, जो ज्ञानवान् हों, जो गुणवान् हों, जो विवेकी हों, अर्थात् हम उन सत्पुरुषों का संग करें कि जिन की बुद्धि सद्–असद् को समझती हो, जिन का ज्ञान शुभ–अशुभ का निर्णय कर सकता हो, जिनका विवेक भली–भाँति सद्–असद्, शुभ–अशुभ, धर्म–अधर्म, कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य का विवेचन कर सकता हो। और फिर इतना ही नहीं कि वे केवल ऐसे बुद्धिमान् ज्ञानी–विवेकी ही हों वरन् वे तो ऐसे हों जो कि स्वयं भी तदनुकूल आचरण करने वाले हों। ऐसे ज्येष्ठ–श्रेष्ठ महापुरुषों में भी जो उस प्यारे और सब जग से न्यारे प्रभु के अत्यन्त निकट बसते हों, जो सांसारिक भोग–विलासों से उपरत होकर प्यारे प्रभु में प्रायः डूबे रहते हों, जो पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से सर्वथा ऊपर उठकर धारणा–ध्यान–समाधि द्वारा कुछ अनुभव प्राप्त कर चुके हों, जो श्रद्धा–भक्ति और विश्वास पूर्वक उसका जप–तप आदि द्वारा कुछ प्यार और आशीर्वाद पा चुके हों, जो उस परम पवित्र प्यारे प्रभु के संग में रह–रहकर बहुत कुछ सम्भल चुके हों, जो उस परम पिता परमेश्वर के रंग में कुछ रंग चुके हों, जो उस दिव्य देव के ढंग में कुछ ढल चुके हों, जो उस प्रभु के सान्निध्य से कुछ पवित्र हो चुके हों, जो उस

तेजःस्वरूप ओजःस्वरूप प्रभु के सामीप्य से सहज ही कुछ तेजोरूप–ओजोरूप बन गए हों, जो उस ज्योतिर्मय जगदीश्वर की ज्योति से कुछ ज्योतिर्मय हो गए हों, जो उस प्रकाशस्वरूप प्रभु के प्रकाश से कुछ प्रकाशमय हो चुके हों, जो उस ज्ञानस्वरूप प्रभु के ज्ञान से कुछ ज्ञानस्वरूप हो गए हों जो इस ब्रह्माण्ड के अधिपति परमेश्वर के सन्निकट रह–रह कर अपने पिण्ड के कुछ ईश्वर बन गए हों, जो उस तृप्तिमय प्रभु के संग में रह–रह कर कुछ तृप्त हो गए हों, जो उस आनन्दमय भगवान् की शरण में श्रद्धा से बैठ–बैठ कर कुछ आनन्दमय हो गए हों, ऐसे तेरे अन्तिकतम–समीपतम वर्त्तमान रहने वाले सच्चे–सुच्चे साधकों में वर्त्तमान रहते हुए हम भी शनैः–शनैः तुझे जान जाएँ, तुझे पा जाएँ, तेरे तेज से कुछ तेजोमय हो जाएँ, तेरे ओज से कुछ ओजोमय हो जाएँ, तेरी ज्योति से कुछ ज्योतिर्मय हो जाएँ, तेरे प्रकाश से कुछ प्रकाशमय हो जाएँ, तेरे ज्ञान से कुछ ज्ञानमय हो जाएँ, तेरे दिव्य स्नेह से कुछ स्नेहमय हो जाएँ, तेरे परम आनन्द से कुछ आनन्दमय हो जाएँ।

सप्तम रश्मि

स्यामिदिन्द्रस्य शर्मणि। –ऋ० १.४.६

अन्वयार्थ–(**वयम्**) हम (**इन्द्रस्य इत् शर्मणि स्याम**) हम इन्द्र की ही शरण में रहें, परमेश्वर की ही शरण में रहें।

व्याख्या–जो इन्द्र है, जो ऐश्वर्यशाली है, जो ऐश्वर्यशाली ही नहीं वरन् परमैश्वर्यशाली भी है, जो राजा है, जो महाराजा है, जो राजा–महाराजा ही नहीं वरन् राजाओं–महाराजाओं का भी राजाधिराज और महाराजाधिराज परमेश्वर हैं, ऐसे (इन्द्रस्य इत् शर्मणि स्याम) इन्द्र–परमेश्वर–परम सम्राट् प्यारे प्रभु की ही शरण में हम रहें, ऐसे जगत् विधाता सब को अपनी न्याय व्यवस्था में नियन्त्रित रखने वाले राजाधिराज–राजेश्वर प्रभु के ही आश्रय में हम रहें।

वह इन्द्र ऐश्वर्यशाली है! चूँकि इस संसार में जितना भी ऐश्वर्य है, जितना भी धन–वैभव है, जितना भी सुख–सौभाग्य है, वह सब उसी इन्द्र–प्रभु का ही तो है। ये सूर्य–चन्द्र, ये द्यावा–पृथिवी, ये हीरे–जवाहरात, ये सोना–चाँदी, ये ताम्बा–पीतल, ये जस्ता–लोहा, ये धन–धान्य, ये अन्न–पान, ये फल–फूल, ये शाक–दाल, ये दुग्ध–घृत, ये मलाई–मक्खन, ये षड्विध रस आदि–आदि सब ऐश्वर्य उसी प्रभु ने ही तो उत्पन्न किया हुआ है। वही ही तो एक मात्र सब ऐश्वर्यों का स्वामी है और वही ही तो एक मात्र इन सब प्राणियों को अपने–अपने कर्मों के अनुरूप यह सब प्रकार का ऐश्वर्य प्रदान करता रहता है, यह सब प्रकार का धन–धान्य और सुख–सौभाग्य प्रदान करता रहता है।

उसी इन्द्र–परमेश्वर की ही अनुपम न्याय व्यवस्था से ही हम इस जगत् में जाति [योनि] आयु और भोग को प्राप्त करते हैं। उसी की ही विलक्षण व्यवस्था से हम सब प्रकार के सुख–सौभाग्यों को भोगते हैं, हम सब प्रकार की सुख–सुविधाओं को उपलब्ध करते हैं।

वह इन्द्र परमेश्वर केवल इस जागतिक–केवल इस

सांसारिक ऐश्वर्यों का ही स्वामी नहीं है वरन् वह तो परमैश्वर्यरूप परमानन्द का भी स्वामी है। इसलिये उसके द्वार पर हमें वह परमैश्वर्य, वह परमानन्द भी मिल सकता है। परन्तु वह मिलता तब ही है जब कि इस सांसरिक सर्वविध ऐश्वर्यों को पाकर भी–इस सांसारिक सर्वविध सुख–सौभाग्यों को उपलब्ध कर के भी हम इस में रमते नहीं, इस में डूबते नहीं, वरन् कमल की भाँति इस में रह कर भी हम इस से ऊपर रहते हैं, हम इस से उपरत रहते हैं, तो तब वह प्रभु फिर हमें वह अपना परमैश्वर्य, अपना वह परम आनन्द भी प्रदान करता है।

इस संसार का राजा यदि कभी हम पर प्रसन्न भी हो जाए तो वह केवल इस सांसारिक ऐश्वर्य से ही, केवल इस सांसारिक धन–धान्य से ही, केवल इन सांसारिक सुख–सुविधाओं से ही हमारी झोली भर सकता है, वह भी तब जब कि उस पर उस दिव्य देव की इस दृष्टि से कृपा होती रहे। परन्तु अगर वह जगत् सम्राट् परमेश्वर हम पर प्रसन्न हो जाए तो फिर केवल सांसारिक ही नहीं वरन् पारमार्थिक ऐश्वर्य से भी वह हमारी झोली भर देता है, इन सांसारिक सुख–सौभाग्यों से ही नहीं वरन् उस परम सौभाग्य रूप अर्थात् अपने साक्षात्कार रूप महान् सौभाग्य से भी हमें वह निहाल कर देता है। अर्थात् वह ऐसा द्वार है जहाँ हम अभ्युदय एवं निःश्रेयस दोनों को ही पा जाते हैं और तब सब प्रकार से हम पूर्ण काम हो जाते हैं। अतः हमें चाहिये कि हम उसी की ही शरण में सदा वर्त्तमान रहें, उसी के ही आश्रय में सदा विद्यमान रहें। वही सब से बड़ा आश्रय है, वही सब से बड़ा सहारा है, वही सब से उत्तम टेक है। कठोपनिषद् के ऋषि ने ठीक ही कहा है–

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥ –कठो० २.१७

यह सहारा श्रेष्ठतम है और ज्येष्ठतम है। इस आश्रय को जो पा लेता है उसको फिर किसी अन्य आश्रय की अपेक्षा नहीं रहती। तब तो वह ब्रह्म में लीन हुआ–हुआ सदा महिमा को ही अनुभव करता रहता है।

वैदिक पुस्तकालय
ऋग्वेद
यजुर्वेद
सामवेद
अथर्व वेद
वैदिक पुस्तकालय

अष्टम रश्मिः

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता। –यजुः० ३२.१०

अन्वयार्थ–(**सः नः बन्धुः**) वह हमारा बन्धु है, (**जनिता**) वह हमारा उत्पादक है, (**सः विधाता**) वह हमारा विधाता है।

व्याख्या–हम उस प्रभु को क्यों उसके समीपस्थ महापुरुषों के सहयोग से जानें और क्यों उस का आश्रय लेवें, क्यों उसकी शरण में जाएँ? इसीलिये कि–

(सः नः बन्धुः) वह हमारा बन्धु है। यों बन्धु तो यह हमारा माँ जाया भाई भी है और यह हमें हृदय से स्नेह भी देता है, लाड भी देता है, सलाह–मशवरा भी देता है, सहानुभूति भी देता है, सान्त्वना भी देता है, सहायता भी देता है, सहयोग भी देता है, फिर यह सब कुछ यह तन–मन–धन से देता है। परन्तु फिर भी जैसा हमारा वह बन्धु है, वैसा कोई दूसरा हो ही नहीं सकता। क्योंकि जैसे वह हमें स्नेह देता है, जैसे वह हमें लाड देता है, जैसे वह हमें प्यार देता है, जैसी वह हमें सलाह देता है, जैसी वह हमें सहानुभूति देता है, जैसी वह हमें सान्त्वना देता है, जैसी वह हमें सहायता देता है, जैसा वह हमें सहयोग देता है, ऐसा तो इस संसार में कोई दे ही नहीं सकता और फिर जितना यह सब कुछ वह हमें दे सकता है, इतना तो कोई और हमें दे ही नहीं सकता। क्योंकि इस संसार के जितने भी बन्धु हैं, उन सब के स्नेह–लाड और प्यार में सलाह, सहानुभूति, सहायता और सहयोग में वह ऊँचाई नहीं, वह निःस्वार्थता नहीं, वह सरलता नहीं, वह निश्छलता नहीं, वह स्वाभाविकता नहीं जो कि उस प्यारे और सब जग से न्यारे उस परम बन्धु परमात्मा के स्नेह सहयोग आदि में है।

हम इस संसार में यहाँ देखते हैं कि जहाँ इस बन्धु–भाई के स्वार्थ को कहीं आँच आती है, इसकी इच्छा–अभिलाषा की जहाँ जरा अवहेलना होती है, इसके मान–सम्मान में किञ्चिद् अन्तर आता है, इसकी सेवा–शुश्रूषा में कुछ न्यूनता आती है, समय पर इसकी सहायता वा इसके सहयोग में कुछ फर्क पड़ता

है, तो वहाँ यह बन्धु फिर बन्धु नहीं रहता, अर्थात् यह बन्धु अपने इस बन्धु को फिर देखना नहीं चाहता, यह बन्धु अपने इस बन्धु से फिर बात नहीं करना चाहता, यह बन्धु अपने इस बन्धु से पास फिर बैठना नहीं चाहता, यह बन्धु अपने इस बन्धु को फिर स्नेह–लाड और प्यार नहीं देना चाहता, यह भाई अपने इस भाई को फिर सलाह–मशवरा नहीं देना चाहता, यह भाई अपने भाई के प्रति फिर सहानुभूति नहीं रखना चाहता, यह भाई अपने भाई को फिर सान्त्वना नहीं देना चाहता, यह भाई अपने भाई की फिर सहायता नहीं करना चाहता, यह भी अपने भाई को फिर किञ्चिद् भी सहयोग नहीं देना चाहता। परन्तु वह प्यारा और सब जग से न्यारा बन्धु ऐसा नहीं है। वह तो सर्वथा इन बन्धुओं से विलक्षण रहता है। वह तो इन सामान्य स्वार्थों से ही नहीं वरन् सर्वविध स्वार्थों से सर्वदा सर्वथा ऊपर ही उठा रहता है। वह जैसा भी जितना भी हमें स्नेह देता है, लाड देता है, प्यार देता है, सुझाव देता है, सन्मार्ग के लिये सत्प्रेरणा देता है, सहानुभूति–सहयोग देता है, धन–धान्य देता है, सुख–सौभाग्य देता है, उसके पीछे उसका तनिक भी तो स्वार्थ नहीं होता। इस विषय में वह इतना विलक्षण है, इतना अद्भुत है, इतना निराला है, इतना आला [=उत्तम] है कि हृदय उसको अनुभव तो कुछ कर पा रहा है और इस अनुभव से कुछ दिव्य तृप्ति–सी भी अनुभव कर गद्गद् हो पा रहा है पर फिर भी उसको वाणी शब्दों में कुछ अभिव्यक्त नहीं कर पा रही है, लेखनी शब्दों में स्पष्टरूप से लिख नहीं पा रही है।

वह प्रभुवर हमारा सच्चा–सुच्चा बन्धु केवल इतना ही नहीं कि वह हमारे साथ स्नेहवश बन्धा हुआ हो वरन् वह तो हमारा (जनिता) जनक भी है, उत्पादक भी है, जननी भी है, जनक भी है, माता भी है, पिता भी है।

अब इस संसार में जो जिस का जनक होता है, उत्पादक होता है, उत्पन्न करने वाला होता है, माता–पिता के रूप में होता है, उसका उस अपने उत्पन्न किये हुए बालक के साथ कितना स्नेह होता है, कितना लाड होता है, कितना प्यार होता है, कितना लगाव होता, उसके निर्माण में उसका कितना हाथ होता है, उसके पालन–पोषण में, उसकी शिक्षा–दीक्षा में उसका

कितना योगदान होता है। अब यदि इस संसार के अस्थायी जननी जनक, माता-पिता का यह सब होता है तो फिर उस (जनिता) स्थायी सच्चे उत्पादक-सच्चे जननी-जनक के रूप में विद्यमान प्यारे प्रभु का तो स्नेह कितना विलक्षण होगा, लाड कितना अद्भुत होगा, प्यार कितना निराला होगा, लगाव कितना विचित्र होगा, निर्माण कितना अद्वितीय होगा, उसकी सीख वा शिक्षा-दीक्षा कितनी निर्मल होगी, सान्त्वना कितनी स्वच्छ होगी, सहायता कितनी स्तुत्य होगी, सहयोग कितना दिव्य होगा, पालन-पोषण कितना भव्य होगा, यह आप स्वयं समझ सकते हैं। और अगर नहीं समझ सकते हैं तो जाकर उन सत्पुरुषों से, उन सच्चे साधकों से, उन ज्ञानी तपस्वी संन्यासी ऋषि महर्षियों से जिज्ञासु भाव से पूछ सकते हैं कि वह बन्धु कैसा है, वह जनिता-उत्पादक कैसा है, उसका स्नेह कैसा है, उसका प्यार कैसा है, उस का लाड़ कैसा है, उस का सहयोग कैसा है, उस का पालन-पोषण कैसा है..... ? इत्यादि।

अपने इन्हीं विलक्षण स्नेह सहयोगों के कारण-अपने इन्हीं अद्भुत लाड-प्यारों के कारण-अपनी इन्हीं अनुपम शिक्षा-दीक्षाओं के प्रदान करने के कारण, अपनी प्यारी और सब जग से न्यारी सत्प्रेरणाओं के कारण, अपने इन विशेष निःस्वार्थ सहज अद्वितीय पालन-पोषण के कारण, अपने इन उत्तम धारण-पोषण के कारण से ही तो वह हमारा बन्धु और जनिता ही नहीं, धाता-धारणकर्त्ता ही नहीं वरन् "विधाता" भी कहलाता है।

उसके "विधाता" होने में एक और भी बड़ा रहस्य है, वह यह है कि वह जहाँ संसार में हमें नानाविध पदार्थ-खाद्य पेय-चूष्य (चूसने योग्य) अवलेह आदि प्रदान कर हमारे शरीर को पुष्ट करता रहता है, जहाँ वेदों के माध्यम से और अपनी सत्प्रेरणाओं के माध्यम से वह हमें अनुपम ज्ञान-अद्वितीय विचार प्रदान कर हमें ऊपर उठाता और आगे बढ़ाता रहता है, हमारे मन को सुमन-शान्तमन, बुद्धि को सुबुद्धि बनाने का और हमारी आत्मा को सबल-सशक्त बनाने का सहज प्रयास करता है, तथा इस सब कुछ करने में वह कभी भी जहाँ थकता नहीं, हारता नहीं, निराश नहीं होता, हताश नहीं होता, वहाँ

हमारे उसकी आज्ञाओं पर, उसकी प्रेरणाओं पर समर्पित होकर आचरण करने पर फिर वह हम पर प्रसन्न हुआ-हुआ हमें भीतर से विलक्षण तृप्ति अर्थात् अनुपम आनन्द भी प्रदान करता है, जिससे हमारे इस स्वस्थ शरीर में-स्वस्थ-शान्त मन के साथ-साथ आत्मा भी प्रभु का अद्भुत प्यार और आशीर्वाद पाकर निहाल हो जाता है-पुष्ट-परिपुष्ट हो जाता है। यह सब कुछ यह जगत् का सामान्य धाता-धारण करने वाला बन्धु, जनिता-जनक और धाता-धारण करता हुआ पिता नहीं कर सकता। इसलिये वह हमारा सच्चा बन्धु है, सच्चा जनिता-पिता है, और अद्भुत धाता अर्थात् "विधाता" है।

नवम रश्मिः

एक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः ॥ –अथर्व० २.२.१

अन्वयार्थ–(**एकः एव नमस्यः**) वह एक–अद्वितीय परमेश्वर ही नमस्कार करने योग्य है और (**विक्षु ईड्यः**) प्रजाओं में स्तुति करने योग्य है।

व्याख्या–वह प्रभु जो हमारा सच्चा बन्धु है, हमारा सच्चा जनक पिता है, हमारा सच्चा पालक–पोषक है, हमारा वास्तव में भरण–पोषण करने वाला है। वह एक ही है, अद्वितीय ही है। अर्थात् अपने आप में उस जैसा कोई दूसरा है ही नहीं, वही (**एकः एव नमस्यः**) एक परमेश्वर ही ऐसा है जो सब प्रकार से नमन करने योग्य है, सब प्रकार से पूजने के योग्य है, सब प्रकार से अपनाने के योग्य है, सब प्रकार से आराधना के योग्य है, सब प्रकार से उपासना के योग्य है, सब प्रकार से धारणा ध्यान समाधि द्वारा जानने योग्य है, सब प्रकार से साक्षात् करने के योग्य है, सब प्रकार से अनुभव में लाने के योग्य है।

इतना ही नहीं वह प्रभु तो इतना प्यारा और न्यारा है कि वह (**विक्षु ईड्यः**) सब प्रजाओं में, सब मनुष्यों में सब प्रकार से स्तुति के योग्य है, स्तवन के योग्य है, प्रशंसा के योग्य है, भजन के योग्य है, गुणगान करने के योग्य है, प्रार्थना के योग्य है, याचना के योग्य है। अतः सब मनुष्यों को चाहिये कि यदि वे कभी स्तुति करें, स्तवन करें, गान करें, पूजा करें, उपासना करें, आराधना करें, तो उसी एक प्रभु की ही करें, उसी एक अद्वितीय परम पावन परमेश्वर की ही करें। यह सब कुछ मनुष्य यदि करें तो भाट के समान अपने आराध्य देव के धन–वैभव, सुख–सौभाग्य आदि पर दृष्टि रख कर कभी न करें वरन् वे सच्चे साधक बन कर, सच्चे आराधक बन कर करें, सच्चे उपासक बन कर अपने उस प्यारे और सब जग से न्यारे उपास्य देव परम पिता परमेश्वर के गुण–कर्म–स्वभावों पर मुग्ध होकर ही करें, जिससे कि उस पावन प्रभु के दिव्य गुण–

कर्म–स्वभाव सत्य–न्याय दया पवित्रता आदि उन में सहज ही घर कर जाएँ। और उन में वे गुण ऐसे समा जाएँ कि फिर जो भी उन के सम्पर्क में आए उस के प्रति सहज ही उस नमस्करणीय स्तुत्य पावन प्रभु के समान उन उपासकों से भी सत्य–न्याय दया एवं पवित्रता पूर्वक उत्तम व्यवहार ही होता रहे ताकि जैसे प्रभु के सम्पर्क में आकर वे साधक तृप्त हुए हैं वैसे ही इन साधकों के सम्पर्क में आकर अन्य भी सब प्रसन्न हों।

वैदिक पुस्तकालय
ऋग्वेद
यजुर्वेद
सामवेद
अथर्व वेद

दशम रश्मि

तमु ष्टवाम य इमा जजान। –ऋ० ८.९६.६

अन्वयार्थ–**(तम् उ स्तवाम)** हम उस को ही भजें, उसका ही स्तवन करें **(यः इमा जजान)** जो इन सब को उत्पन्न करता है, जो इन सब लोक–लोकान्तरों में विद्यमान नानाविध प्रजाओं को उत्पन्न करता है, अर्थात् जलचर स्थलचर और नभचर मत्स्य, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि आदि नाना प्रकार के प्राणियों को उत्पन्न करता है। जो इन सब प्राणियों की सुख–सुविधाओं के लिये इन लोक–लोकान्तरों में स्थित अग्नि, विद्युत, चन्द्र, सूर्य आदि को उत्पन्न करता है। जो सब के सुख–सौभाग्यों के लिये इन में विद्यमान जल–वायु तथा नानाविध खनिज पदार्थों को उत्पन्न करता है, अनेकविध खाद्य एवं पेय, चूष्य एवं लेह्य पदार्थों को उत्पन्न करता है। यह सब कुछ उत्पन्न कर के भी वह स्वयं इस सब का उपभोग नहीं करता वरन् वह अपनी न्याय व्यवस्था से हमारे कर्मों के अनुसार हमें ही यह सब कुछ प्रदान करता है, ताकि हमारा जीवन सुख पूर्वक व्यतीत हो सके।

उस प्यारे प्रभु ने जहाँ हमारी सुख–सुविधाओं के लिये हमें वे सर्वविध पदार्थ प्रदान किये हैं, वहाँ उसने हमारे कल्याण के लिये संसार में इन वेदों का भी आविर्भाव किया है। इसलिये कि उन का स्वाध्याय कर के, मनन–चिन्तन–निदिध्यासन आदि कर के हम ऐसी विधि से इन प्रभु प्रदत्त संसार के सुख–सौभाग्य का सदुपयोग कर सकें कि जिस से जहाँ हमें इस लोक में सुख मिले वहाँ हमारा परलोक में भी कल्याण हो जहाँ हम वाह्य भौतिक सुख–सौभाग्य को भोग सकें वहाँ हम आन्तरिक–आध्यात्मिक सुख–आनन्द से भी अपने को निहाल कर सकें। अर्थात् जहाँ हम अभ्युदय को पा सकें वहाँ हम निःश्रेयस के भी पात्र बन सकें।

यह उभयविध सुख–आनन्द हमें तभी मिल सकता है जब कि हम जहाँ वेद के अद्वितीय ज्ञान द्वारा उस प्रभु के बनाए हुए इन सांसारिक सर्वविध पदार्थों का यथोचित उपभोग करें वहाँ

हम को हमारे कर्मानुसार जन्म देकर जिस ने हमारे सुख–सौभाग्यों के लिये इन लोक–लोकान्तरों को और इन लोक–लोकान्तों में विद्यमान इन अग्नि, विद्युत, सूर्य, चन्द्र, वायु, जल, अन्न, शाक–पात, फल–फूल आदि पदार्थों को उत्पन्न किया है, हम उस को भी कभी भूले नहीं, हम उस को भी कभी अपने से ओझल न होने दे हम उस को भी कभी अपने से अन्तर्हित न होने दें।

हम में यह एक बहुत बड़ी कमजोरी है कि जिस की महती कृपा से, जिस की अनुपम न्याय–व्यवस्था से हम को यह सर्वविध सुख–सौभाग्य के साधन मिलते हैं हम उसको ही भूल जाते हैं। अर्थात् हम तब इन सुख–सौभाग्यों के साधनों में इतने डूब जाते हैं कि फिर इन साधनों के द्वारा जो साद्य प्रभु है उस का तो हम कभी ध्यान ही नहीं कर पाते। यही कारण है कि तब यही सब साधन हमारे सांसारिक सुख और पारमार्थिक सुख–मोक्ष के कारण न बन कर हमारे बन्धन के, हमारे दुखों के कारण बन जाते हैं। हमें सदा यह स्मरण रखना चाहिए कि भले ही हमारे पास कितनी भी सुख–सुविधाओं की सामग्री क्यों न हो जाए पर तब तक हमारे हृदय की कली खिल नहीं सकती जब तक कि हमें उस महान् प्रभु का प्रकाश न मिले, हमें उस प्यारे प्रभु का प्यार और आशीर्वाद न मिले। एक गुलाब के पौधे को कितने भी सुन्दर गमले में, कितनी भी सुन्दर मिट्टी में, कितना भी सुन्दर खाद–पान देकर, कितने भी बढ़िया पंखे की वायु क्यों न प्रदान कर दी जाए, पर फिर भी यदि कमरा बन्द कर दिया जाए तो हम देखते हैं कि वह गुलाब का पौधा खिलता नहीं, खिलने की बात तो पृथक् रही वह तो और भी कुम्हला जाता है। हम गुलाब के पौधे से पूछते हैं–"हे प्रिय गुलाब के पौधे! तुम्हें इतनी सब सुख–सुविधायें दी गयीं फिर भी तू खिल न सका, इसका कारण क्या है?" इस के उत्तर में गुलाब का पौधा कहता है–"हे भोले मानव! इस में कुछ सन्देह नहीं कि तू ने मुझे सब कुछ दिया पर एक सूर्य का प्रकाश मुझे नहीं दिया, इसलिये मैं खिल नहीं सका, इसलिये मैं हरा–भरा होकर खिले हुए फूलों से सम्पन्न नहीं हो सका...।"

सो यह सत्य है, यह वास्तविक तथ्य है कि भले ही हमारे

पास प्यारे प्रभु के प्रदान हुए कितने भी सुख-सौभाग्य
नानाविध पदार्थ क्यों न हो जायें पर यह हमें सदा स्म
रखना चाहिये कि उस गुलाब के पौधे के समान इस सब ध
वैभव के रहने पर भी हमारे हृदय की कली तब तक नहीं खि
सकती जब तक कि हम को इन सब पदार्थों के निर्माण क
वाले, तथा कर्मानुसार इन सब के प्रदान करने वाले, प्यारे
का प्रकाश न मिले, प्यार न मिले। सो इसलिये यहाँ अनुभ
उपासकों का, प्रभु के प्रिय भक्तों का यह कहना है कि-
चाहिये कि (यः इमा जजान) जिस प्यारे और सब जग से न्य
प्रभु ने इन सब भोगों को उत्पन्न किया है, हम इन सब
उपभोग तो करें पर इन में डूबें नहीं। हम इन भोगों के साग
पर तैरते हुए, (तम् उ स्तवाम) उस ही परम प्यारे प्रभु क
श्रद्धा-भक्ति से स्तुति करें, भजन करें, गुणगान करें और ऐ
कृतज्ञता से विभोर होकर करें, ऐसे समाधिस्थ होकर करें कि
फिर उसके बनाए हुए ये सब पदार्थ तो हम से ओझल हो जाए
पर वह प्रभु सदा हमारे सम्मुख रहे। फिर उस में हम ऐसे मग्
हो जाएँ कि हमें सदा सर्वत्र इन पदार्थों में उस का ज्ञान होता
रहे, उसका ही भान होता रहे। हमें विश्वास है कि ऐसा होने
पर फिर हम उस से वह दिव्य सुख, वह परम प्रसाद, वह
अनुपम आनन्द भी पा जायेंगे जिसके लिये कि हमारा आत्मा
युग-युगान्तरों से लालायित रहता रहा है।

एकादश रश्मि

यजाम॒ इन्नमसा वृद्धमिन्द्रम्। -ऋ० ३.३२.७

अर्थः-हम नमस्कार से ही उस महान् इन्द्र की पूजा करते हैं।

अन्वयार्थ-**(वयम्)** हम **(वृद्धम् इन्द्रम् इत् नमसा यजामः)** महान् इन्द्र-परमेश्वर को ही नमन द्वारा पूजते हैं, श्रद्धा-भक्ति से उपासते हैं।

वह इन्द्र-परमेश्वर वृद्ध हैं, हम से सब प्रकार से बढ़ा हुआ है। हम अल्पज्ञ हैं वह सर्वज्ञ है, अतः ज्ञान की दृष्टि से वह हम से बढ़ा हुआ है। हम एक-देशी हैं और वह सर्वदेशी है, हम व्याप्य हैं, वह व्यापक है, अतः इस दृष्टि से भी वह हम से वृद्ध है। हम अल्प सामर्थ्य वाले हैं वह अनन्त सामर्थ्य वाला है, अतः वह हम से वृद्ध है। हम सत् चित् हैं जबकि वह सत् चित् आनन्दस्वरूप है, अतः आनन्द की दृष्टि से भी वह हम से वृद्ध है। हम काया वाले हैं, हम शरीरों वाले हैं जब कि वह अकाय हैं अशरीर है, फिर भी आश्चर्य यह है कि वह बिना शरीर के भी सब कार्य कर लेता है, अतः इस दृष्टि से भी वह हम से बढ़ा हुआ है।

हमारे पास आँखें हैं पर हम आँखों के रहने पर भी वह सब कुछ नहीं देख पाते जो कि वह बिना आँखों के भी देख लेता है। हमारे पास हाथ हैं पर इन हाथों के विद्यमान रहने पर भी हम वह सब कुछ नहीं कर पाते जो कि वह बिना हाथों के भी कर लेता है। हमारे पास पैर हैं, चरण हैं, पर इन पैरों-चरणों के विद्यमान रहने पर भी हम सर्वत्र नहीं चल पाते, सर्वत्र नहीं पहुँच पाते जबकि वह बिना पैरों के भी, बिना चरणों के भी सर्वत्र चल पाता है, सर्वत्र पहुँच जाता है। हमारे श्रोत्र हैं पर आश्चर्य यह है कि इन दोनों श्रोत्रों के विराजमान रहने पर भी हम वह सब कुछ नहीं सुन पाते जो कि वह बिना श्रोत्रों के भी सुन लेता है। हमारे पास मन-बुद्धि है पर फिर भी आश्चर्य यह है कि हम वह सब मनन नहीं कर पाते, वह सब

कुछ नहीं विचार पाते जो कि वह बिना मन–बुद्धि के भी मनन कर लेता है, विचार लेता है। हम सब इतनी न्याय की पुस्तकें पढ़ लेने पर भी और सही–सही बात जान लेने पर भी राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदि के कारण प्रायः न्याय नहीं कर पाते, और अगर कुछ थोड़ा बहुत न्याय कर भी पाते हैं तो भी उस प्रभु की कृपा और प्रेरणा से ही कर पाते हैं। पर इन न्याय नियमों के पोथों को बिना पढ़े हुए भी उसका न्याय निराला है। वह दयालु है जब कि हम प्रायः निर्दयी होकर व्यवहार करते हैं और अगर कुछ दया पूर्ण व्यवहार कर भी पाते हैं तो उस प्रभु की ही प्रेरणा से कर पाते हैं। वह अजन्मा है, जन्म–मरण के चक्र से सर्वथा–सर्वदा मुक्त है जब कि हम अपनी राग–द्वेष की प्रवृत्तियों के कारण अपनी वासनाओं के कारण जन्म–मरण के चक्र पर सदा आरूढ़ रहते हैं। और यदि कभी इस जायस्व–म्रियस्व के, इस जन्म–मरण के चक्र से पर्याप्त लम्बे काल तक के लिये मुक्त भी हो पाते हैं तो भी उस प्रभु की प्रदान की हुई वेदवाणी एवं उसकी सत्प्रेरणा ही के बल पर हो पाते हैं। वह अनन्त है जब कि हम अन्त वाले हैं, भले ही हम आत्मरूप से अन्त वाले न हों, पर हमारे शरीरों का अन्त तो होता ही है। वह सर्वदा,सर्वथा निर्विकार रहता है जब कि हम में विकार आ जाते हैं। वह सर्वाधार है जबकि हम पग–पग पर दूसरों को आधार बनाकर ही कहीं टिक पाते हैं, कहीं स्थिर खड़े हो पाते हैं। और अगर हम कहीं किन्हीं के आधार बन भी जाते हैं तो भी किन्हीं अंशों में, किन्हीं समय विशेषों में, किन्हीं अवस्था विशेषों में। वह सर्वेश्वर है जब कि हम अपनी इन इन्द्रियों के, अपने इस तन–मन के भी स्वामी नहीं हैं। वह सर्वनियन्ता है, सर्वान्तर्यामी है, सब को अपने नियम (controle) में रखता है, पर हम तो अपने आप को भी नियम में नहीं रख पाते। और अगर कुछ थोड़ा–बहुत अपने पर कन्ट्रोल हम कर भी पाते हैं तो वह भी उस प्रभु की कृपा से ही कर पाते हैं। वह अजर है, अमर है, अर्थात् वह कभी जीर्ण नहीं होता, वह कभी मरता नहीं जब कि हम जीर्ण भी होते हैं, बूढ़े–वृद्ध भी होते हैं और शरीर से वियुक्त हो जाने पर मर भी जाते हैं। उस इन्द्र को तो वेद में 'सदायुवा' कहा गया है जबकि हम कभी बालक होते

हैं, कभी युवा होते हैं, कभी वृद्ध होते हैं और कभी मर भी जाते हैं। वह सर्वथा निर्भय है जब कि हम में समय–समय पर भय व्याप जाता है। वह नित्य पवित्र है जबकि हम में पाप व्याप जाता है। इस तरह हम सर्वदा–सर्वथा निष्पाप निष्कलंक नहीं रह पाते जबकि वह नित्य शुद्ध–पवित्र, निष्पाप एवं निष्कलंक रहता है। और हम यदि कुछ शुद्ध–पवित्र, निष्पाप–निष्कलंक रह भी पाते हैं तो भी उसी सर्वाधार पावन प्रभु की कृपा से ही रह पाते हैं। वह सारी सृष्टि का रचयिता है जब कि हम कुछ भी तो नहीं बना पाते, और अगर कुछ थोड़ा बहुत बना पाते हैं तो भी उसी की प्रदत्त प्रेरणा और ज्ञान के आधार पर ही बना पाते हैं। वह कवि है, ज्ञानी है, मनीषी है, मन तक की बात को जानने वाला है। वेद जैसे अद्वितीय ज्ञान को जिसने मानवों के कल्याण के लिए दिया हुआ है। वह अद्वितीय दिव्य देव अपनी सत्ता से ही सर्वत्र विराजमान है जब कि हम सदा अन्यों को आधार बना कर ही सदा खड़े रह पाते हैं।

वह इन्द्र है, ऐश्वर्यशाली है। फिर वह इस ऐश्वर्य का ही स्वामी नहीं है वरन् परमैश्वर्य का भी स्वामी है। हम तो इस दृष्टि से सर्वथा कंगाल हैं, क्योंकि न तो हमारे पास यह सांसारिक ऐश्वर्य रहता है और न ही परमैश्वर्य–परमानन्द, और अगर हमारे पास संसार में कुछ थोड़ा–बहुत ऐश्वर्य धन–धान्य, सुख–सौभाग्य हो भी पाता है तो वह भी उस ऐश्वर्यशाली प्रभु की न्याय व्यवस्था के आधार पर, उसकी कृपा से आधार पर। ऐसे ही हमें यदि परमैश्वर्य परमानन्द–मोक्षानन्द भी कुछ मिल पाता है तो वह भी उस प्यारे प्रभु की महती कृपा से ही मिल पाता है। सो ऐसे सब प्रकार से जो इन्द्र, जो परमेश्वर हम से बढ़ा हुआ है, ऐसे उस अद्वितीय परम् परमेश्वर का ही उपासक नमन पूर्वक श्रद्धा–भक्ति से यजन करते हैं, संग करते हैं और अन्त में उसके प्रति पूर्णतया आत्मसमर्पण कर उस में ऐसे खो जाते हैं, उस में ऐसे तल्लीन हो जाते हैं कि फिर अपना तो पता रहता ही नहीं, रहता ही है तो केवल प्रभु का ही पता रहता है। ऐसे समय में तो बस हमें सर्वत्र वह ही वह भासता है और जब वह ही वह भासता है तो फिर आनन्द ही आनन्द हो जाता है।

द्वादश रश्मि

स न इन्द्रः शिवः सखा। –ऋ० ८.९३.३

अन्वयार्थ–(सः इन्द्रः नः शिवः सखा) वह इन्द्र हमारा कल्याणकारी मित्र है। वह इन्द्र–जगत् सम्राट् प्रभु–वह सर्वविध ऐश्वर्यों का स्वामी परमेश्वर हमारा कल्याणकारी सखा है।

व्याख्या–वह प्रभु हमारा वास्तव में कल्याणकारी सखा है। ये संसारी सखा–मित्र–दोस्त तो हमारे किन्हीं स्वार्थों से ही हमारे सखा, मित्र, दोस्त आदि बन जाते हैं, पर वह तो है ही हमारा सच्चा निःस्वार्थ सखा। इसलिए इन सांसारिक सखा–मित्रों के स्वार्थ में जहाँ भी किञ्चिद् अन्तर आया वहाँ ही वे हम से परे हो जाते हैं, पृथक् हो जाते हैं, परन्तु वह प्रभु ऐसा नहीं है।

इस जगत् में जब हमारा कोई 'हम उमर' होता है, जब हमारी आयु किसी के समान होती है, जब हमारा धन–वैभव किसी के लगभग तुल्य होता है, जब हमारे गुण–कर्म–स्वभाव किसी के समान होते हैं, जब हमारे आचार–विचार और व्यवहार किसी के साथ मिलते हैं तो फिर वह हमारा सखा बन जाता है। यद्वा किन्हीं कारणों से हमारा किसी के प्रति स्नेह हो जाता है, किसी से प्यार हो जाता है, किसी से हित हो जाता है, जैसे किसी दूसरे के गुणों को देखकर, किसी दूसरे के कर्मों को देखकर, किसी दूसरे के व्यवहारों को देखकर, किसी दूसरे के स्वभावों को देखकर, किसी की हितकर भावनाओं और प्रवृत्तियों को देखकर वह किसी की किसी समय–असमय पर अपने प्रति स्नेह सहानुभूति सहायता को देखकर, तो फिर झट हम यह भी देखते हैं कि जहाँ वे कारण हटते हैं, जहाँ वे हेतु समाप्त होते हैं, वहाँ वह घनिष्ट से घनिष्ट सखित्व भी समाप्त हो जाता है, दृढ से दृढ मित्रता–दोस्ती भी टूट जाती है।

परन्तु यह सब कुछ प्रभु में नहीं है। वह प्यारा प्रभु तो हमारा सहज सखा है, निःस्वार्थ और निष्कलंक सखा है, फिर वह "शिवः सखा" कल्याणकारी सखा है, सब प्रकार से पूर्ण

हितकारी सखा है। ये सांसारिक सखा–दोस्त तो हमारे तभी तक ही सखा–मित्र–दोस्त रहते हैं जब तक कि अनुकूलता बनी रहती है। जहाँ अनुकूलता चली गई वहाँ मित्रता भी चली जाती है। फिर अनुकूलता में भी ये सांसारिक सखा केवल हमें सांसारिक स्नेह सहानुभूति और सहयोग मात्र प्रदान करके ही तो सुखी और प्रसन्न कर सकते हैं और वह भी प्रभु की कृपा और अनुकूलता बनी रहे तो तब तक ही। परन्तु वह प्रभु तो हमारा ऐसा सखा है, ऐसा मित्र है, ऐसा दोस्त है, जो कि यहाँ हमें इस संसार में पग–पग पर स्नेह सहानुभूति सहयोग दे–दे कर सदा जहाँ स्थिर रूप से खड़ा रखता है, वहाँ वह हमें निरन्तर आगे बढ़ने और निरन्तर ऊपर उठने की सदा प्रेरणा प्रदान कर–करके हमारा पूर्णतया कल्याण कर हमारी झोली अपने परम प्रसाद अपने परम आनन्द से भी भर देता है। आश्चर्य यह है कि ये सब सखा–मित्र–दोस्त तो कभी समय आने पर उदास, हताश और निराश होकर कभी हम से किनारे होकर भी बैठ जाते हैं पर वह तो ऐसा सखा, ऐसा मित्र है, ऐसा दोस्त है कि न कभी हम से उदास होता है, न कभी हताश होता है, न कभी निराश होता है। वह तो सदा सब प्रकार से आशावान् होकर बड़े धैर्य से हमारा सुधार करता हुआ हमें सदा स्वस्ति पथ पर कल्याणमय पथ पर अग्रसर करता हुआ एक दिन हमारा पूर्णरूपेण कल्याण ही कर देता है। फिर विचित्रता यह है कि वह यह सब कुछ अपनी अनहेतुकी कृपा से ही करता रहता है, सर्वथा निःस्वार्थ और निष्कलंक भाव से ही करता है। ऐसे अपने अनादि काल से चले आ रहे अपने सर्वथा सच्चे–सुच्चे अद्वितीय सखा को जब हम समझने लगते हैं, जब हम जानने–पहचानने लगते हैं तथा उसकी सब प्रकार की हितैषिणी वेद–वाणी एवं सत्प्रेरणा के अनुसार जब हम चलने लगते हैं तो फिर निःसन्देह हमारा सब प्रकार से कल्याण हो जाता है।

त्रयोदश रश्मि

वयमिन्द्रं स्तवाम। –ऋ० ८.५१.१२

अन्वयार्थ–**(वयम् इन्द्रं स्तवाम)** हम इन्द्र की स्तुति करें।

व्याख्या–हम इन्द्र की स्तुति करें, हम परमेश्वर का स्तवन करें, हम जगत् सम्राट्, प्रभु का भजन करें।

यहाँ इन्द्र से अभिप्राय यह इन्द्र जीवात्मा नहीं है, और न ही यहाँ इन्द्र से अभिप्राय यह लौकिक राजा है वरन् यहाँ इस इन्द्र से उसकी ओर संकेत है जो परम् आत्मा है, जो इन राजाओं का राजा है, अर्थात् जो इस सकल जगत् का सम्राट् है, जो सारे जगत् को अनुशासन में रखता है, जो सारे जगत् के प्रति अपना एक विधान बनाता है, जो सारे जगत् के प्रति अपनी एक उत्कृष्ट न्याय–व्यवस्था का पालन करता रहता है। जो केवल इस सांसारिक धन–वैभव का ही स्वामी नहीं है वरन् पार्मार्थिक ऐश्वर्य का भी जो सर्वान्तर्यामी है, सबको नियम में रखने वाला है, जो आत्मा ही नहीं वरन् परमात्मा है, जो राजा भी है तो ऐसा राजा है कि जिसका राज्य इस प्रजा के कर–टैक्स के आश्रय पर नहीं चलता, वरन् उसके अपने ही ऐश्वर्य के आधार पर ही चलता है, जो स्वयं सब प्रकार के स्वार्थों से, भोग–विलासों से परे है, जो सतत् कर्मा है, जो राग–द्वेष से ऊपर है, जो अपने पराये के भेद से ऊपर है, अन्यों को राजा तो बनाता है पर स्वयं अन्यों के आश्रय पर राजा नहीं बनता है जो ज्ञान में सबसे बढ़कर है, जो वैभव में सब से बढ़कर है, जो सूझ–बूझ में सब से बढ़कर है, जो पवित्रता में सर्वोपरि है, ऐसे उस प्यारे और सब जग से न्यारे प्रभु की हम श्रद्धा–भक्ति से स्तुति करें, स्तवन करें, भजन करें, पूजन करें, ताकि फिर हम उस के ही हो जाएँ अथवा वह हमारे ही हो जाएँ। अर्थात् हम उस सर्वोत्कृष्ट प्रजापति परमेश्वर की ही प्रजा हो जाएँ और वह हमारा प्रजापति हो जाए। हम उसी के ही अनुशासन में निरन्तर रहते हुये जहाँ उससे यह लौकिक सुख–सौभाग्य पाएँ वहाँ उससे दिव्य प्यार और आशीर्वाद भी पाएँ।

चतुर्दश रश्मि

आ त्वा रम्भं न जिव्रयो ररम्भा शवसस्पते।

–ऋ० ८.४५.२०

अन्वयार्थ–**(शवसस्पते! जिव्रयः रम्भं न त्वा आरम्भ)** हे सर्वविध बलों के अधिपति परमेश्वर! वृद्धजन–बूढ़े मनुष्य जैसे लाठी का आश्रय लेते हैं, वैसे ही हम तेरा आश्रय लेते हैं।

व्याख्या–हे इन्द्र! हे परमेश्वर! तू शवसस्पति है, तू सर्वविधि बलों का स्वामी है। देहबल, बुद्धिबल, ज्ञानबल मनोबल और आत्मबल आदि सभी बल आपके ही आधीन रहते हैं। सभी बलों का उद्गम–स्रोत तू ही तो है। तू ही तो सब को शारीरिकबल प्रदान करता है, बौद्धिकबल प्रदान करता है, मनोबल प्रदान करता है, आत्मबल प्रदान करता है।

हे बलाधिपति परमात्मन्! यदि तू इन विश्वविध बलों को न प्रदान करता होता तो तेरा नाम वेदों में[1] 'बलदा', और 'आत्मदाः' आदि कैसे होता? इसी प्रकार तू यदि इन बलों को कृपालु होकर न प्रदान करता होता तो फिर कैसे इन सर्वविध बलों की अभिलाषा को हृदय में संजोए हुए साधक पुरुषार्थ करते और आप से इन के लिए प्रार्थना करते! इसी तरह यदि तू[2] तेजस्वी आदि न होता और अपनी शरण में आए हुए पुरुषार्थी साधक को तेजस्वी आदि न बनाता तो फिर कौन तुझ को वेद में 'तेजोऽसि' कहकर 'तेजो मयि धेहि'–तेज मुझ में धारण कर, ऐसी प्रार्थना करता! ऐसे ही तू वीर्यवान्–सामर्थ्यवान् न बनाता तो फिर कौन तुझे 'वीर्यमसि, वीर्य मयि धेहि'–वीर्यवान्–सामर्थ्यवान् कहकर तुझ से वीर्य अर्थात् सामर्थ्य की अभ्यर्थना करता? ऐसे ही यदि तू बलवान् न होता, ओजोरूप न होता तथा अपनी शरण में तत्सम्बन्धी पुरुषार्थ पूर्वक आने वाले को बलवान्, ओजस्वी, मन्युमान–स्वाभिमानी एवं सहोरूप–

---

१. य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते....। यजु० २५.१३

२. तेजोऽसि तेजोमयि धेहि.....। यजु० १९.९

कठिनाईयों को धैर्यपूर्वक सहन करने वाला या उन कठिनाईयों का डटकर सामना करने वाला एवं उन पर विजय प्राप्त करने वाला साहसी न बनाता तो फिर कौन तुझ को बलमसि, ओजोऽसि–मन्युरयि, सहोऽसि–तू बलरूप है, ओजोरूप है, मन्युरूप है, सहोरूप है–यह सब कह कर तुझ से 'बलं मयि धेहि, ओजो मयि धेहि, मन्युं मयि धेहि, और सहो मयि धेहि'– मुझ में बल भर, मुझ में ओज भर, मुझ में मन्यु भर अर्थात् बुराईयों के प्रति रोष भर, मुझ में सहन शक्ति भर, कठिनाईयों का सामना करने की सामर्थ्य भर वा सहनशक्ति भर, ऐसी–ऐसी प्रार्थनाएँ करता ?

हे प्यारे परमेश्वर! इन उपर्युक्त नानाविध बलों का, सामर्थ्यों का तू अधिपति है, स्वामी है। अतः हम तेरे द्वार पर आकर हम तुझ से विनय करते हैं कि तू हम में तेज भर, बल भर, शक्ति भर, मन्यु भर, सहन–शीलता भर, साहस भर...।

हे शवसस्पति प्रभो! **(चिब्रयः रम्भं न वयम् त्वा आररम्भ)** जैसे इस जगत् में वृद्ध जन–बूढ़े मनुष्य जब लड़खड़ाने लगते हैं, अर्थात् वह अपने सहारे से खड़े नहीं हो सकते, अपने सहारे चल नहीं सकते, अपनी बाधाओं का स्वयं निवारण नहीं कर सकते तो तब वे सब तरह से हार कर अन्त में लाठी का आश्रय लेते हैं। अब जब वह लाठी का आश्रय ले लेते हैं तो फिर वे लाठी के सहारे भली–भाँति खड़े हो सकते हैं, भली–भाँति ऊँची–नीची भूमि का बोध प्राप्त कर तदनुसार अपना पग धर सकते हैं, भली–भाँति चल–फिर सकते हैं, समय आने पर झाड़–झङ्काड़ और हानिकारक तत्वों अर्थात् कुक्कुर सर्प आदि आदि भयानक प्राणियों का भी उससे निवारण कर सकते हैं।

हे प्रभो! हे बलों के भण्डार प्रभो! उस वृद्ध के समान हम भी सब प्रकार से अब–निर्बल हो गये हैं, शरीर के शिथिल होने के साथ–साथ मनोबल भी हमारा समाप्त प्रायः हो गया है, बौद्धिक बल भी हमारा क्षीण हो गया है, क्या करें, क्या न करें, यह भी अब हमारी समझ में नहीं आता, आत्मबल से भी अब हम विहीन हो चुके हैं, बुद्धि भी अब साथ नहीं देती, मन के चञ्चल होने से ये ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ भी अब हमारे काबू की नहीं रही हैं...।

हे निर्बलों के परमबल! हे निस्सहायों के परमसहाय! हे सामर्थ्यहीनों के लिए अनुपम सामर्थ्य के स्रोत! हे तेजोहीनों के लिये तेजः पुञ्ज! हे ओजोहीनां के लिये ओजोरूप परमेश्वर! हे निराश्रयों के परम आश्रय भगवन्! हमें अब ज्ञात हो गया है कि तुझ इन्द्र–परमेश्वर के बिना हम अपनी बाधाओं को हटा नहीं सकते, अपनी आने वाली कठिनाईयों पर विजय पा ही नहीं सकते। इसलिए ही तो परस्पर संघर्षरत दोनों ओर के मनुष्य अपनी–अपनी रक्षा के लिए तुम्हारा ही आह्वान करते हैं। इसलिये अब हम भी तुझको अपना परम बल मानकर अपना परम आलम्बन मानकर आपका ही आश्रय लेते हैं, आपका ही सहारा लेते हैं।

हे प्रभुवर! वृद्धजन जैसे हाथ में लाठी लेने पर पग–पग पर गिरने से बच जाते हैं, पग–पग पर ठोकर खाने और चोट खाने से बच जाते हैं, ऐसे ही हम भी आपका आश्रय पाकर आप से आत्मबल, मनोबल, बुद्धिबल, देहबल पाकर कदम–कदम पर हम डगमगाते से, पग–पग पर डावाँडोल होने से और स्थान–स्थान पर गिरने से, पतित होने से सहज ही बच जायेंगे और इस जगत् में जैसे उस अपनी लाठी के सहारे, जैसे वृद्ध अपने लक्ष्य पर सहज पहुँच जाते हैं वैसे ही हम भी आपके आश्रय से अपने परम लक्ष्य को अपने चरमोद्देश्य को पा जायेंगे। अतः हम अब आपका ही आश्रय लेते हैं, हम अब आपका ही सहारा लेते हैं, हम अब आपका ही आलम्बन लेते हैं ताकि हम फिर खड़े हो सकें, अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ सकें, और अपने लक्ष्य को, अपने प्राप्तव्य को प्राप्त कर सकें और सब प्रकार से निहाल हो सकें।

पञ्चदश रश्मि

त्वमस्माकं तव स्मसि। –ऋ० ८.८१.३२

अर्थ–तू हमारा है और हम तुम्हारे है।

अन्वयार्थ–हे प्रभो! **(त्वम् अस्माकम्)** तुम हमारे **(असि)** हो **(वयम्)** हम **(तव स्मसि)** तुम्हारे हैं।

व्याख्या–हे प्रभुवर! सचमुच तू हमारा है और हम तुम्हारे हैं। जब तक हमारे हृदय में यह सत्य बैठा नहीं, यह तथ्य समाया नहीं, तब तक हमारा भद्र होता नहीं, तब तक हमारा कल्याण होता नहीं।

हे परमेश्वर! हम ने इस जगत् में यह देख लिया, भली–भाँति परीक्षण कर के यह जान लिया कि न तो कोई हमारा सदा बना रहता है और न ही हम सदा किसी के बने रह पाते हैं।

बाल्यावस्था से एक बालक अपनी माँ को समर्पित भाव से यह कहता है–माँ! तू हमारी [माँ] है और हम तुम्हारे [बच्चे] हैं। उसी बच्चे को जब हम कुछ और बड़ा होता हुआ देखते हैं तो फिर वह माँ से आगे बढ़कर पिता को सम्बोधित करते हुये कहता है कि–पिता जी! तू हमारा (पिता) है और हम तुम्हारे (पुत्र) हैं। और अधिक बड़ा होने पर जब वह पढ़ने जाने लगता है तो माता–पिता से आगे बढ़कर अपने गुरु को सम्बोधित करते हुए वह कहता है–गुरु जी! आप हमारे (गुरु) हैं और अब हम तुम्हारे शिष्य हैं, और बड़ा होने पर मित्रों से कहता है–मित्रो! तुम हमारे (मित्र) हो और हम तुम्हारे (मित्र) हैं। विशेष स्नेह सहयोग और हित करते रहने के कारण वह मित्रों से भी आगे बढ़कर अपने बहिन भाईयों को कहता है–भाई–बहिनो! तुम हमारे (भाई–बहिन) हो और हम तुम्हारे हैं, और आगे चलकर जब विवाह हो जाता है तो तब वह अपनी पत्नी को सम्बोधित करते हुये कहता है–तू हमारी (पत्नी) है और हम तुम्हारे हैं, ऐसे ही पत्नी पति को सम्बोधित करती हुई कहती है–तुम हमारे (पति) हो और मैं तुम्हारी हूँ, इसी प्रकार

राष्ट्र के प्रति समर्पित होने पर–हे राष्ट्र! तू हमारा है और हम तुम्हारे हैं।

तुम हमारे हो और हम तुम्हारे हैं, इस वाक्य पर चिन्तन करें तो हमें ज्ञात होगा कि–प्रारम्भ में जब हम अपने माता–पिता को कहते थे कि तुम हमारे और हम तुम्हारे हैं, तो इस वाक्य का तात्पर्य यही था कि–तुम हमारे प्रति समर्पित हो, और हम आपके प्रति समर्पित हैं..। पर आज उसी बालक के युवा होने और विवाह हो जाने पर उस में इतना परिवर्तन हो गया कि वही अब अपनी पत्नी को सम्बोधित करते हुए कहता है–तू मेरी है और मैं तेरा हूँ–तुम हमारी हो और हम तुम्हारे हैं। यहाँ आकर वह पर्याप्त समर्पित रहता है और एक बार इससे आगे उसको कुछ भासता ही नहीं। परन्तु वह शीघ्र ही जब अपनी इस अवस्था से भी ऊपर उठ जाता है तो फिर याज्ञवल्क्य की तरह इस तथ्य पर आ विराजमान होता है कि हे मैत्रेयि! न तू मेरी है और न ही मैं तेरा हूँ, न तू मुझे प्रिय है, और न ही मैं तुझे प्रिय हूँ, न तू मेरे प्रति समर्पित है, और न ही मैं तेरे प्रति समर्पित हूँ। सच्ची बात तो यह है कि हम सब अपने प्रति समर्पित हैं, अपनी आत्मा के प्रति समर्पित है, इस अपने आत्मा की कामना के लिए ही हम यह सब कुछ करते रहते हैं। अतः जब तक तुझे स्नेह करने में मुझ को तृप्ति मिलती रहती है तब तक मैं तेरा बनकर मैं तेरे प्रति समर्पित रहता हूँ। इसी प्रकार जब तक मेरे प्रति समर्पित होकर मुझे स्नेह प्रदान करने में तुम्हारी आत्मा को तृप्ति मिलती रहती है तब तक तू मेरे प्रति समर्पित रहती है। जहाँ यह सब कुछ करने में हमारी आत्मा को तृप्ति मिलनी बन्द हो जाती है, वहाँ फिर–'न तू मेरी रहती है और न मैं तेरा रहता हूँ, न तू पत्नी रहती है, न ही मैं पति रहता हूँ। यही कारण है कि अब मैं सन्यास ले रहा हूँ।' हे मैत्रियि! ऐसी ही तेरी अवस्था है, ऐसी ही इन बच्चों की, ऐसी ही इन माँ–बापों की, ऐसी ही इन मित्रों की, ऐसी ही इन बन्धु–बान्धवों की स्थिति है। वस्तुतः मैं अपनी तृप्ति के लिये यह सब कुछ करता हूँ। वस्तुतः यह आत्मा तृप्ति चाहता है। अतः यह आत्मा अपनी तृप्ति के लिए यह सब कुछ करता रहता है। सो इस आत्मा की, तृप्ति की अन्तिम सीमाचरम सीमा परमात्मा है,

इसलिये वहीं पर ही इस आत्मा को अन्तिम तृप्ति मिलती है
पूर्ण तृप्ति मिलती है, अन्तिम आनन्द मिलता है। साधना करते
करते–निरन्तर आगे बढ़ते–बढ़ते अन्तिम आनन्द–पूर्ण तृप्ति
पूर्णानन्द–चिरस्थायी तृप्ति–चिरस्थायी आनन्द के मिलते ही
प्रभु में पूर्णतया समर्पित हुआ–हुआ उपासक यह सहज ही बोल
उठता है–''त्वमस्माकं तव स्मसि''–''तू मेरा है, मैं तेरा हूँ''
''तुम हमारे हो हम तुम्हारे हैं।''

वस्तुतः हमें तृप्ति चाहिये, हमें आनन्द चाहिये, हमें बह
जहाँ–जहाँ मिलता रहता है, हम वहाँ–वहाँ समर्पित होते रहते
हैं जहाँ–जहाँ से हमें वह मिलना बन्द होता जाता है, वहाँ–वहाँ
से हम पृथक् होते जाते हैं। इसका अन्तिम स्रोत–इसका मूल
स्रोत प्रभु है। अतः अन्त में हम सबसे निवृत्त होते–होते उस
आनन्द के परम धाम प्रभु में मग्न हुये–हुये उसी में पूर्णतया
समर्पित हो जाते हैं और तब हम इतने तृप्त हो जाते हैं इतने
परि–तृप्त हो जाते हैं कि उसी में हम अपने आप को खो बैठते
हुए सहज ही कह उठते हैं–**''त्वमस्माकं तव स्मसि''**–तुम हमारे
हो और हम तुम्हारे हैं। अर्थात्–

तुम हमारे हो गये और हम तुम्हारे हो गये,
इसी का परिणाय है कि हम आनन्दित हो गये।

(२)
वैदिक रश्मियाँ
द्वितीय भाग

प्रथम रश्मि

अग्न आयाहि। (२ ३ १ २) –सामवेद पू० मन्त्र १

संक्षिप्त अन्वयार्थः–(**अग्ने! आयाहि**) हे प्रभो! तू आ।

अन्वयार्थः–हे प्रकाशस्वरूप–ज्ञानस्वरूप प्रभो! तू आ।

व्याख्याः–हे प्रभो! तू अग्निस्वरूप है, तू ज्योतिःस्वरूप है, तू ज्ञानस्वरूप है। तू अग्रणी है, सब का अगुआ है, सब का नेता है, सब का नेतृत्व करने वाला है, सब को आगे ले चलने वाला है, तू सब में गति–उत्साह उत्पन्न कर–कर के सब को निरन्तर आगे बढ़ाने वाला और ऊपर उठाने वाला है।

हे प्यारे और सब जग से न्यारे प्रभो! तू अग्निस्वरूप है, तू ज्योतिरूप है, प्रकाशरूप है, तू तेजोरूप है, तू ओजोरूप है, अतः मैं तेरी श्रद्धा–भक्ति से तन्मय होकर स्तुति करता हुआ तुझ से प्रार्थना करता हूँ कि–हे प्यारे प्रभो! तू आ, तू शीघ्र आ, अब तू देर बिल्कुल भी न लगा। तू आकर प्रभुवर, फिर मुझे भी अग्नि जैसा अर्थात् अपने जैसा ज्योतिर्मय बना, प्रकाशमय बना, ज्ञानमय बना, तेजोमय बना, ओजोमय बना, और ऐसा बना कि फिर मेरे हृदय के किसी कोने में कहीं अन्धेरा न रहे, कहीं अविद्या–अज्ञान न रहे, कभी भ्रम न रहे, सन्देह न रहे, शक व शुबहा न रहे, कहीं भय न रहे, डर न रहे, कहीं त्रुटि न रहे, न्यूनता न रहे, कमी न रहे। बस फिर तो मेरे हृदय में तेरी ज्योति ही ज्योति रहे, तेरा प्रकाश ही प्रकाश रहे, ताकि मेरी सभी ग्रन्थियाँ खुल जायें, मेरी सभी समस्याएँ सुलझ जायें, मेरे सभी उत्थान के पथ स्पष्ट–सुस्पष्ट दिखाई देने लगें, मेरे ऊपर उठने और आगे बढ़ने की सभी पगडण्डियाँ मुझे साफ–साफ दिखाई देने लगे, और फिर मैं तेरा भक्त उन पगडण्डियों पर बड़े उत्साह पूर्वक अबाध–गति से निरन्तर बढ़ता ही चला जाऊँ और ऐसा बढ़ता जाऊँ कि फिर मेरे पग कहीं रुकें नहीं, कहीं अटकें नहीं, कहीं भटकें नहीं।

हे नाथ! तू आ, शीघ्र आ, अत्यन्त शीघ्र आ, और तू आ

कर मुझे ऐसा तेजोमय बना, ऐसा ओजोमय बना, ऐसा सबल और प्रबल बना, कि जैसे किसी जंगल में कहीं पर इस अग्नि के प्रज्वलित हो जाने पर, तेजोमय–ओजोमय हो जाने पर फिर जैसे जंगली भयंकर हाथी, चीता, शेर आदि उसके समीप आने से भयभीत होते हैं, डरते हैं, वैसे ही फिर हमारे तेजोमय–ओजोमय बन जाने पर ये भयंकर मनुष्य को तबाह और बर्बाद करने वाले अतिकाम, अतिक्रोध, अतिलोभ, अतिमोह, अत्यहंकार, ईर्ष्या–द्वेष आदि भयवशात हम से परे–परे रहें। अर्थात् उनका हम पर आक्रमण करने का फिर कभी साहस भी न हो सके।

हे ईश्वर! कितनी सौभाग्यशालिनी वे घड़ियाँ होंगी जबकि तू ज्ञान–प्रकाश और पवित्रता का अद्वितीय स्रोत, परमोत्कृष्ट प्रभु मेरा अग्रणी होगा, अगुआ होगा, मेरा नेता होगा, और मैं सच्चे दिल से तेरे आदेशों, उपदेशों, सन्देशों और निर्देशों को शिरोधार्य करता हुआ तेरा सच्चा (Follower) अनुयायी हूँगा।

हे अग्ने! तू ज्ञानस्वरूप है। तेरी हर रचना ज्ञानपूर्वक है। वेदरूपी अनुपम ज्ञान को भी तू ही देने वाला है। संसार की अद्भुत रचना भी तो तू ही अपने अनुपम ज्ञान से करता है। इसकी व्यवस्था भी तो तू ही अपनी अद्भुत सूझ–बूझ से करता है। कभी भी तो आज तक आपको अपने इन सब छोटे–बड़े कार्यों में किसी से सलाह और मशविरे की, किसी से विचार और विमर्श की आवश्यकता नहीं पड़ी। नाथ! तेरे वेद रूपी अनुपम काव्य के एक–एक मन्त्र को देखकर, तेरे संसार की रचना रूप काव्य की एक–एक कृति को देखकर हम तो बस फिर अवाक् ही रह जाते हैं, चकित ही रह जाते हैं। फिर तो हम कुछ बोल नहीं पाते, हमारी यह बाह्य वाणी तो तब बन्द सी हो जाती हैं। यों समझो कि हम सब मूक से हो जाते हैं। इतना ही नहीं, तब हमारी आँखें भी कुछ पथरा सी जाती हैं वा अपने बाह्य रूप से हम कुछ अन्धे से ही हो जाते हैं। तब हमारे ये कान भी अपने बाह्य कपाटों को कुछ बन्द सा कर देते हैं, इन्हें भी तब बाहर की कोई ध्वनि सुनाई ही नहीं पड़ती। यों समझो कि ये भी तब बधिर से, बहिरे से हो जाते हैं। हमारी नासिका भी तब कुछ सूँघ नहीं पाती, उसे भी मानो तब किसी सुगन्ध–

दुर्गन्ध का भान नहीं हो पाता। त्वचा भी तब ऐसी प्रतीत होती है जैसे अपना स्पर्श गुण छोड़ कर कुछ आराम से बैठ सी गई हो। इतना ही नहीं, एक बार तो तब ऐसा लगता है जैसे मन ने भी अपनी चञ्चलता को विदाई दे दी हो, बुद्धि ने भी जैसे सोचना–विचारना छोड़ सा दिया हो, चित्त ने भी अपने भीतर जैसे संस्कारों को चयन करना त्याग सा दिया हो, अहंकार भी तब अपना फन मारना मानो कुछ भूल सा गया हो। एक बार तो तब हमें यह पता ही नहीं चल पाता कि–''यह सब क्या हो गया है ?'' पर बहुत ही शीघ्र हम क्या देखते हैं कि जैसे हमारा वह अग्नि ज्यति ज्ञान प्रकाश का अभिलाषी यह मानो आत्मा मानो उस अग्निस्वरूप–प्रकाशस्वरूप–ज्ञानस्वरूप प्रभु की ओर उन्मुख हुई है तभी तो उसकी यह बाह्य वाणी बन्द सी हो गई है, उसी की यह भीतरी वाणी अब उस प्यारे, सब जग से न्यारे प्रभु की ओर मुखरित सी हो गयी है, और अब हम भीतर ही भीतर कुछ बोल से पड़े हैं। वह यह कि–

हे ज्ञानस्वरूप प्यारे प्रभो! तू आ, अत्यन्त शीघ्र आ, और हमारे हृदय को ज्ञान ज्योति से सब तरह से ज्योतिर्मय बना। फिर तो बस क्या था, भीतर की आँखें उसे देखने को सजग हो गयीं, भीतर के नेत्र उसे निहारने को निश्चल से हो गए, भीतर के श्रोत्र उसे श्रवण करने को उत्सुक हो गए, भीतर की घ्राणेन्द्रिय उसकी सुगन्ध को पाने को उद्बुद्ध सी हो गयी, भीतर की त्वगेन्द्रिय–स्पर्शेन्द्रिय उसका वह अनुपम स्पर्श पाने को अग्रसर सी हो गयी जिसके परिणामस्वरूप साधक उसके प्रति पूर्णतया समर्पित हुआ–हुआ अपनी सुध–बुध ही पूर्णतया खो बैठता है। मन बुद्धि चित्त अहंकार भी तब एक बार अंगड़ाई लेकर उसकी ओर बड़े वेग से आगे बढ़कर उसको मनन करने, सोचने–समझने और विचारने तथा उसके सम्मुख अपने व्यक्तित्व को खड़ा करने का प्रयास करते हैं, पर पता नहीं मेघस्थ विद्युत् की भान्ति–बादल की बिजली की चमक की तरह वे सब एक बार चमके भी, एक बार कुछ प्रतीत से भी हुए, फिर भी न जाने वे सब कहाँ समा गये।

नाथ! ऐसी अवस्था में उस माँ के समान, जो जग में अपने पुत्र को जगा–जगा कर शनैः शनैः बहुत कुछ बोध दे जाती है,

ऐसे ही तू भी हमें जगा–जगा कर हमारी हृदय रूपी झोली में अपने अनुपम ज्ञान के कणों को डाल और हमें भी उस ज्ञान के मोतियों से ऐसा अलंकृत कर कि जिससे फिर हमारा यह संसार भी उत्तम बने और परमार्थ भी। कवि के शब्दों में तब तू मुझे ''ऐसा जगा दो, फिर सो न जाऊँ, जीवन को निष्काम प्रेमी बनाऊँ... ।''

हे प्रभुवर! तू अग्रणी है, अगुआ है, नेता है, अद्भुत् नेतृत्व करने वाला है, इसलिये हम तुझे अपना सच्चा अग्रणी–अगुआ–अद्भुत् नेता मानकर आगे बढ़ना चाहते हैं, ऊपर उठना चाहते हैं। अतः अब तू आ, शीघ्र आ, और हमारा अग्रणी–अगुआ–नेता बनकर हमारा नेतृत्व कर, अर्थात् हमको आगे बढ़ा और ऊँचा उठा। हे प्रभुदेव! तू हम को इतना आगे बढ़ा, इतना ऊँचा उठा कि जिसके परिणामस्वरूप फिर हम वह पा जाएँ जिसके सम्मुख हमारा यह सर्वविध सांसारिक सुख–सौभाग्य तुच्छ रह जाए, हेय हो जाए।

हे ईश्वर! हम आपको अपने जीवन के प्रत्येक कर्म में आगे रखते हैं, सामने रखते हैं, ताकि आपके सम्पर्क से, आपके अनुपम निर्देशन से हमारा प्रत्येक कर्म उत्तम हो, श्रेष्ठ हो, पवित्र हो, दिव्य हो, अनुपम हो, निराला हो, आला हो (बढ़िया हो)। हे जगदीश्वर! हमें ज्ञात हुआ है कि जो आपके प्रति समर्पित हो जाता है उसको आप अपना रूप प्रदान कर देते हैं, उसको आप अपने रंग में रंग लेते हैं। जैसे कि इस अग्नि में पड़कर यह कृष्णायस–यह काला लोहा वा यह कृष्ण–काला स्याह कोयला लाल पड़ जाता है, भीतर–बाहर से तेजोमय एवं ओजोरूप हो जाता है, वैसे ही हे सर्वेश्वर! तू भी आ, और अपने में समर्पित इस भक्त को दीप्तिमय बना, ज्योतिर्मय बना, तेजोमय और ओजोमय बना। प्रभुवर! हम उपासक सदा तेरे सम्पर्क में ऐसे ही बने रहें ताकि हमारा यह दीप्तिमय–तेजोमय–ओजोमय रूप भी सदा ही वर्त्तमान रहे।

हे प्रभुदेव! तू गतिमान् है, तू ज्ञानवान् है, आचरणवान् है, प्राप्तियुक्त है। हे प्रभो! तू इतना गतिमान् है, इतना (Active) गति वाला है, इतनी हरकत वाला है, इतनी बरकत वाला है कि जिसका हम कुछ वर्णन ही नहीं कर सकते। यह बात पृथक्

है कि आप की गतिविधियाँ हम सामान्य जीवों के सदृश नहीं हैं, वरन् वे तो बड़ी निराली हैं, बड़ी विचित्र हैं, बड़ी अद्भुत् हैं।

हे प्रभुवर! तू आ, शीघ्र आ, अब देर बिल्कुल भी न लगा, और हमें भी अपनी प्रेरणा से गतिमान् बना और ऐसा बना कि फिर हम अपने जीवन के अत्यन्त मूल्यवान् क्षणों में से एक भी क्षण को यों ही न खो देवें वरन् प्रत्येक क्षण का हम ऐसा सदुपयोग करें, प्रत्येक क्षण में हम ऐसी–ऐसी उत्तम–उत्तम हरकत करते रहें कि उसमें निरन्तर बरकत ही बरकत पड़ती रहे। हम तेरे संग रह कर सदा उत्साह सम्पन्न बने रहें, अर्थात् तेरी कृपा से हम में आगे ही आगे बढ़ने और ऊपर उठने का बल और उत्साह सदा बना रहे। हम आशा और उत्साह से हीन होकर कभी बैठ ही न जाएँ, कभी ठण्डे ही न पड़ जाएँ वरन् सदा गतिमान् रहें, इसलिये तो हे अग्निदेव! हे प्रभुदेव! हम सदा आपका आह्वान करते रहते हैं।

हे ईश्वर! तू आ, जल्द आ, जल्द आ, और हमें फिर ऐसा गतिमान् बना कि फिर हम कहीं रुकें नहीं, कहीं झुकें नहीं, कहीं अटकें नहीं, कहीं भटकें नहीं, कहीं लटकें नहीं, वरन् फिर तो हम बस अपने लक्ष्य पर पहुँच कर ही विश्राम लें। पर प्रभुदेव! एक बात है वह यह है कि हम में जो गति हो, जो ज्ञान हो, वह अनुपम हो, हमारे लोक–परलोक को बनाने वाला हो, हमें अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति कराने वाला हो। फिर हमारा गमन आचरण–आहार–व्यवहार–कर्म भी ऐसा हो जो हमें तदनुसार जहाँ इस बाह्य लोक में सुख–सौभाग्यों से सम्पन्न करने वाला हो वहाँ तुझ को अपने भीतर हृदयासन पर बिठा कर तुझ से महा–सौभाग्य, परम–सौभाग्य अर्थात् परम आनन्द की प्राप्ति कराने वाला भी हो।

हे नाथ! अब तो ऐसी कृपा कर कि यह जीवन निरर्थक जाने न पाए। अर्थात् हमारे पुरुषार्थ से और तेरी कृपा से यह सब कुछ सहज ही हो जाय।

द्वितीय रश्मि

अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद्। –साम० पू० मं० ४

संक्षिप्त अर्थ–(अग्निः वृत्राणि[1] जङ्घनद्) अग्नि वृत्रों को मारता है।

अर्थ–प्रकाशस्वरूप तेजोमय प्रभु आत्मा पर आवरण डालनेवाले सर्वविध वृत्रों–पापों वा अज्ञानों को मार देता है, समाप्त कर देता है।

व्याख्या–प्रथम रश्मि में उस अग्निस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, प्रकाशस्वरूप, तेजःस्वरूप, ओजःस्वरूप प्रभु से यह प्रार्थना की गई है कि वह आए, शीघ्र आए, अब वह देर बिल्कुल न लगाए। क्योंकि अब उसके महत्व को हम हृदय से अनुभव करते हैं। वह इस रूप में कि हमें संसार में वृत्रों ने घेरा हुआ है, पापों ने हमारा घेराव कर रखा है, अज्ञानों ने, अविद्यान्धकारों ने हमें ऐसा अन्धा–सा बना रखा है, तमोगुण ने हमें ऐसा अभिभूत–सा कर रखा है, ऐसा आच्छादित–सा कर रखा है कि हम चाहते हुए भी आगे बढ़ नहीं सकते। क्योंकि अब हमें राह दीखती ही नहीं, अब हमें मार्ग सूझता ही नहीं, अब हमें अपना पथ स्पष्ट प्रतीत ही नहीं होता। अतः अब हम प्रथम तो कुछ आगे ही नहीं बढ़ पाते, और अगर कुछ बढ़ने का साहस करते भी हैं तो फिर हम कहीं अटकते हैं, कहीं भटकते हैं, कहीं लटकते हैं, कहीं गिरते हैं, तो कहीं के कहीं जा पड़ते हैं। फिर भी साहस करके जो हम पुनः उठते हैं और आगे बढ़ते हैं, तो हमारे ही ये पाप हमें आगे नहीं बढ़ने देते, हमारे ही ये वृत्र, हमारी ही ये वासनाएँ हमें आगे नहीं बढ़ने देतीं। ये हमें कहीं अपने सुन्दर–सुन्दर रूपों में, कहीं अपने सुन्दर–सुन्दर रंगों में, कहीं अपने स्वादों में, कहीं अपने प्रिय लगने वाले स्पर्शों में, कहीं अपनी सुरीली–सुरीली ध्वनिरूप स्वर लहरियो की झाड़–

१. जङ्घनद्–हन् हिंसागत्योः (हन्तेर्यङ् लुङन्ताल्लिङर्थे लिट्) पुनः पुनरतिशयेन भृशं वा हन्तीति जंघनीति तस्य लेटि रूपम् "जंघनत्" [इतश्च लोपः] भृशं हन्तीत्यर्थः।

झंकाड़ों में ऐसा उल्झा लेती हैं कि फिर हम एक पग भी आगे नहीं धर पाते, एक पग भी आगे नहीं बढ़ पाते। यदि साहस करके हम कुछ बढ़ते हैं तो हम छिल–छल जाते हैं। आत्मा से न चाहते हुए भी हम इनसे पिट–पिट कर कभी–कभी तो मृतप्राय हो जाते हैं। अगर कभी हम इन से हार मान कर, इनके आधीन हो जाते हैं, तो तब तो समझो हमारा कचूमर ही निकल जाता है। फिर न तो हम में कुछ आत्मबल रह पाता है, न ही कुछ मनोबल और न ही कुछ शारीरिक बल ही रह पाता है।

अपनी इस दयनीय स्थिति को देखकर हमने अपनी सहायता के लिए न जाने किन–किन का आश्रय लिया, न जाने किन–किन की शरण में हम गए। कभी हम सत्संगों में गये, कभी हमने स्वाध्याय किया, कभी हम देवों, विद्वानों, तपस्वियों, योगियों, संन्यासियों की शरण में गए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन्होंने हमें ज्ञान भी दिया, बड़े–बड़े उपाय भी बताए, पग–पग पर वे हमें स्नेह, सहानुभूति और सहयोग भी देते रहे, पर फिर भी न जाने कैसे उन सब सहयोगी सहायक शास्त्रों एवं शास्त्रकारों, विद्वानों, ज्ञानियों, योगियों, तपस्वियों के संरक्षण में रहते हुए भी वे वृत्र आकर हम पर आक्रमण कर ही जाते थे, हम पर हमला बोल ही जाते थे, और एक बार हमें तहस–नहस कर ही जाते थे–हमें तबाह और बर्बाद कर ही जाते थे।

यह सब देख कर हम सर्वथा एकान्त और शान्त स्थान पर भी गए, वहाँ हम गिरि–गुहाओं में, गिरि–कन्धराओं में भी घुसे, कुटि–कुटीरों में भी घुसे और उनके द्वारों को भी सब प्रकार से हम ने बन्द कर लिया। यहाँ तक कि संसार की सर्वविध सुख–सुविधाओं को, सकलविध सुख–सम्पत्तियों को भी हम सब प्रकार से झटक और पटक कर आ गए। यहाँ तक कि संसार से एक प्रकार से हम ने अपने आप को सर्वथा ओझल–सा भी कर लिया और बैठ गए हम गिरि–गुहा में वा किसी कुटिया में, यह सोचकर कि अब हमारे पास कौन आयेगा, कैसे आयेगा, और क्यों कर आयेगा, पर प्रभु देव! हमें आश्चर्य तो तब हुआ कि जब हम घरबार से, धन–वैभव से, विषय–विकारों से सैंकड़ों–सहस्रों मील दूर आ बैठे हैं और वह भी गिरि–गुहाओं में बन्द होकर बैठे हैं तो भी इन वृत्रों ने इन पापों

ने, इन विषय–विकारों ने हमारा पीछा नहीं छोड़ा। सचमुच तब तो हम अवाक् ही रह गए जबकि हम ने इन्हें यहीं पर भी अपने सम्मुख विद्यमान पाया इन वृत्तों से अपने को हैरान और परेशान हुआ पाया, अपने को तप्त–सन्तप्त होता हुआ पाया। उस समय हमारी इस दयनीय दशा को देख कर किसी अनुभवी सिद्ध पुरुष ने कहा–''हे भोले साधक! ये सब आश्रय निर्बल हैं, अतः लेना है तो एक ही प्रभु का सबल सहारा लो, एक ही उस अग्निस्वरूप, प्रकाशरूप, तेजोरूप, ओजोरूप प्रभु का आश्रय ले, और फिर उसे ही अपने हृदय की तड़प से पुकारो, अपने हृदय के आर्तस्वर से पुकारो। उस दिन समझो उसका तुम्हें सहारा मिल गया जिस दिन उसका तुम्हें आश्रय मिल गया, जिस दिन उसका तुम्हें आलम्बन मिल गया। तो फिर वह इतना श्रेष्ठ और ज्येष्ठ सहारा होगा कि जितना कोई दूसरा सहारा हो ही नहीं सकता। वह इतना ज्योतिर्मय है, इतना प्रकाशमय है, इतना तेजोमय है, इतना ओजोमय है कि उतना कोई न आज तक हुआ, न है, और न ही होगा।'' सचमुच जिस दिन हम उस का आश्रय ले लेंगे और वह हमारे साथ खड़ा हो जायेगा, जिस दिन उसका प्रकाश हमारे हृदय को प्रकाशमय बना देगा, जिस दिन उसका तेज और ओज हम को तेजोमय और ओजोमय बना देगा, उस दिन फिर ये वृत्र, फिर ये विषय–विकार हमारी राह को रोकने वाले, हमारी राह में रोड़े अटकाने वाले, हमें अटकाने–भटकाने और बीच में ही लटकाने वाले, नहीं–नहीं हमें गिरा–गिरा कर बुरी तरह मारने वाले, हमारे महा–सौभाग्य की, परम सौभाग्य की बगिया को उजाड़ने वाले, हमारे रंग–रूप, तेज और ओज को समाप्त करने और हमारे शरीर को अस्थि–पञ्जर मात्र बना देने वाले ये काम–क्रोध आदि–आदि विषय–विकार तब जंगल में जैसे अग्नि के प्रज्वलित हो जाने पर ये सिंह–चीते आदि भयंकर हिंसक प्राणी प्रथम तो दूर–दूर रहते हैं और यदि दुःसाहस करके आगे भी बढ़ते हैं तो उस अग्नि में भस्मसात् हो जाते हैं, ऐसे ही उस तेजोमय, ओजोमय परम प्रभु के हृदय में देदीप्यमान हो जाने पर प्रथम तो वे समीप आते ही नहीं और अगर आते भी हैं तो उस में वे भस्मसात् हो जाते हैं।

वह अग्निस्वरूप तेजोरूप प्रभु तो ऐसा है जो उन वृत्रों को ऐसी मार मारता है कि पुनः कभी वे सिर नहीं उठा पाते, पुनः फिर वे उस उपासक पर आक्रमण करने का साहस ही नहीं कर पाते। वह प्रभु उन वृत्रों को पुनः पुनः मारने वाले हैं, खूब मारने वाले हैं, और ऐसे मारने वाले हैं कि फिर उनमें सिर उठाने का भी साहस और शक्ति नहीं रहती। उसकी इस अद्भुत् सामर्थ्य को देखकर ही तो हम उसे हृदय से पुकारते हैं कि–"हे प्रभो! तू वृत्रहन्ता है, तू वृत्र–विनाशक है। और फिर तू हमारा सर्वोत्तम सहारा है, सबसे बड़ा सहारा है। तेरे बल पर हमें पूर्ण भरोसा है। अतः हम तुम्हें पुकारते हैं कि–हे प्रभो! तू आ, और ऐसा आ कि फिर सदा हमारे हृदय में ही विराजमान हुआ–हुआ हमारा सच्चा संरक्षक ही बन जा, ताकि तेरी पावन छत्र–छाया में हम अबाध गति से निरन्तर आगे ही बढ़ते रहें।"–सतत उपर ही उठते रहे।

तृतीय रश्मि

अग्ने त्वां कामये गिरा। –सामवेद पू० मं० ८

संक्षिप्त अन्वयार्थ–(अग्ने! [अहं] गिरा त्वां [एव] कामये) हे प्रभो! [मैं अब] वाणी से तुझे [ही] चाहता हूँ।

अन्वयार्थ–(अग्ने गिरा त्वां कामये) हे प्रकाशस्वरूप प्रभो! मैं उपासक अब अपनी वाणी से, अपनी स्तुतिमयी वाणी से केवल मात्र तुझे ही चाहता हूँ।

व्याख्या–अग्नि के समान प्रकाशमान् भगवन्! मैंने अपने जीवन को प्रकाशमान् करने के लिये, ज्ञान–ज्योति से ज्योतिर्मय करने के लिये, शुद्ध–पवित्र बनाने के लिये, आनन्दमय बनाने के लिये एक से एक बढ़कर ज्ञानी, विद्वान्, तपस्वी, योगी, धर्मात्मा, महात्मा, संन्यासी को चाहा, उसका वरण किया, उसका शिष्यत्व अङ्गीकार किया, उसके चरणों पर पुनः पुनः बड़ी श्रद्धा–भक्ति से अपना यह मस्तिष्क रखा, अपना यह सिर धरा, अर्थात् पुनः पुनः उसको बड़ी नम्रता से झुक–झुक कर प्रणाम किया, यह सोचकर कि किसी प्रकार से मेरा यह हृदय भी प्रकाशमान् हो जाए, ज्ञान–ज्योति से ज्योतिर्मय हो जाए, और मेरी अविद्या की गाँठ खुल जाए। पर नाथ! वर्षों यह तमाशा करते रहने पर भी मेरे इस हृदय में वह मेरे इस हृदय में वह ज्ञान–ज्योति जगी नहीं, जिससे कि मेरे हृदय का तम–अन्धकार छिन्न–भिन्न हो जाता और मेरे हृदय का कोना–कोना जगमगा जाता।

नाथ! इतना ही नहीं मैं ने बड़े–बड़े वीरों का आश्रय लिया, बड़े–बड़े मल्लों का, पहलवानों का सहारा लिया, उन्हें पुकारा बड़े–बड़े तपस्वी–योगी–महापुरुषों को चाहा और चाहा ही नहीं वरन् उनके द्वारों पर जा–जाकर उनके चरण पकड़े, उनके सम्मुख गिड़–गिड़ाया, यह विचार कर कि किसी प्रकार मैं भी बलवान् बन जाऊँ, मैं भी तेजोमय और ओजोमय बनकर सर्वविध भयों से मुक्त हो जाऊँ, मैं भी सर्वविध आपत्तियों को

पैरों तले रोंध–रोंध कर आगे बढ़ जाऊँ, ऊपर उठ जाऊँ। पर ही नाथ! यह सब कुछ कर लेने पर भी वह सब कुछ हुआ नहीं अर्थात् मेरी अभिलाषा पूरी हुई नहीं।

हे प्रभुवर! मैं यह नहीं कहता कि इन सब ने मुझे अपनाया नहीं, इन सब ने मुझे स्नेह–सहानुभूति एवं सहयोग दिया नहीं। यह सब कुछ इन सब ने मुझे दिया, खूब दिया, दिल खोल कर दिया, बड़े लाड़ और प्यार से दिया, और यह समझ कर दिया कि मुझ बिचारे पथिक को कहीं पथ मिल जाए, मुझ राही को कहीं राह मिल जाए, मुझ अन्धकार में भटकते हुए साधक को कहीं प्रकाश मिल जाए, कहीं शारीरिकबल मिल जाए, मनोबल मिल जाए, बुद्धिबल मिल जाए, आत्मबल मिल जाए। मैं यह भी नहीं कह सकता कि मुझे यह सब कुछ मिला नहीं। मुझे यह सब कुछ मिला, और खूब मिला, तथा इतना मिला कि सम्भवतः मैं इसका पात्र भी था या नहीं, यह मैं नहीं कह सकता! जो कुछ भी मुझे इन सब से मिला, मैं उसका भी मूल्य समझता हूँ, क्योंकि आज जो कुछ भी मैं हूँ, उसी के बल पर ही मैं हूँ, नहीं तो मुझ अकिञ्चित् भिक्षु के पास था भी क्या ? अतः मैं इस सब के लिये इन सब के प्रति कृतज्ञ हूँ, रोम–रोम से कृतज्ञतावश मैं इन सब के प्रति नतमस्तक भी होता हूँ। परन्तु हे प्रभुवर! फिर भी मुझे वह अद्‌भुत् प्रकाश, वह अनुपम ज्ञान, वह दिव्य तेज, और वह उत्तम ओज नहीं मिला, वह दिव्य आनन्द नहीं मिला, वह परम प्यारा प्रभु नहीं मिला कि जिसके परिणामस्वरूप मैं झूम जाता, मैं विभोर हो जाता, मैं कृतकृत्य हो जाता, मैं सर्वथा कृतार्थ हो जाता। अतः हे ज्ञानप्रकाश के, तेज और ओज के, शान्ति और आनन्द के परम स्रोत प्यारे प्रभुवर! अब मैं तेरे दर पर आया हूँ, अब मैं तेरे द्वार पर आया हूँ, और तेरे ही द्वार पर अब मैं अलख जगाए हुए हूँ। इसलिये कि अब मैं तुझ को ही चाहता हूँ, तुझ को ही पुकारता हूँ, भीतर–बाहर से तुझको ही चाहता हूँ, यह विचार करके कि तुझ को पाने से मैं अब वह सब कुछ पा जाऊँगा, जिसके लिये कि मैं अपने घर से निकला था। नाथ! तू मेरी यह पुकार सुन लेना और तू मुझे ऐसा निहाल कर देना कि फिर मैं सब प्रकार से तृप्त परितृप्त हो जाऊँ।

चतुर्थ रश्मिः

प्रेष्ठं वो अतिथिं स्तुषे। –सामवेद पू० मं० ५

सं० अर्थ–([अग्ने! अहम्] वः प्रेष्ठम्–अतिथिं स्तुषे) [हे प्रभो! मैं] तुझ प्रियतम अतिथि को भजता हूँ।

अर्थ–हे प्रभो! आत्मकल्याण का अभिलाषी साधक मैं **(वः प्रेष्ठम्–अतिथिं–स्तुषे)** तुझ प्रियतम अतिथि की श्रद्धा–भक्ति में मग्न होकर स्तुति करता हूँ।

व्याख्या–हे प्रभुदेव! तू अग्निस्वरूप है, तू प्रकाशस्वरूप है, तू कान्तिमान् है। तू इतना कान्तिमान् है कि गीता के शब्दों में **'दिवि सूर्यसहस्रस्य'** द्युलोक में सहस्रों सूर्यों के समान तेरी दीप्ति है, कान्ति है। वेद के शब्दों में भी अन्यत्र आप को **''आदित्यवर्णम्''** कहा गया है। अर्थात् तू आदित्य के समान प्रकाशरूप तेजोरूप वर्ण वाला है।

हे प्रभुवर! तू हमारा अतिथि है। यों तो प्रभुवर! तू सर्वत्र व्यापक है–सर्वत्र गया हुआ है, सब के भीतर–बाहर विद्यमान है, परन्तु फिर भी तुझ से प्रार्थना की गई है कि **'अग्न आयाहि'**–हे प्रभो! तू आ। तो यहाँ इस आने का यही अर्थ है कि तू हमारे हृदय में आ, हमारे साक्षात्कार में आ। अर्थात् तू हमें दर्शन दे। प्रभुवर! हम क्या आज से आप को पुकार रहे है! नहीं नहीं हम तो युग–युगान्तरों से तुझ को पुकार रहे हैं, हम तो जन्म–जन्मान्तरों से तेरा आह्वान कर रहे हैं कि–''तू आ, और अपने दर्शनों से हमें कृतार्थ कर।'' पर न जाने हमारी टेर क्यों नहीं सुनी गयी, न जाने हमारी पुकार क्यों नहीं सुनी गयी!

प्रभुवर! हमें विश्वास है, हमें तुझ पर पूर्ण भरोसा है कि तू आयेगा, जरूर आयेगा, और दौड़–दौड़ कर आयेगा, पर यह पता नहीं कि तू कब आयेगा! ठीक भी है, तुझ अतिथि के आने की भला कोई तिथि निश्चित थोड़ी होती है! अतः तू आयेगा, अवश्य आयेगा, हमारी अत्यन्त श्रद्धा–भक्ति से आवर्जित हुआ–हुआ आयेगा, पर यह निश्चित है कि जब भी तू आयेगा, हम को निहाल कर जायेगा। आने पर हम को तब तू वह दिव्य

प्रसाद दे जायेगा जिस प्रसाद के मिलने के उपरान्त हमें फिर किसी इस मन्दिर, गुरुद्वारे आदि में जाकर पुनः इस बताशे, लड्डू, हलवे, बर्फी आदि के प्रसाद पाने की अभिलाषा नहीं रहेगी। हे भगवन्! तू आयेगा, तो फिर हमें वह आशीर्वाद दे जायेगा कि फिर इस सांसारिक किसी शरीरधारी गुरु, आचार्य, विद्वान्, संन्यासी, तपस्वी, योगी, पीर–पैगम्बर से आशीर्वाद पाने की अपेक्षा नहीं रहेगी।

ओह प्रभुवर! तू तो आ गया, कब आया, कैसे आया? ऐसा प्रतीत होता है कि तू बहुत समय से ही आया हुआ है और मुझ पर प्रसन्न होकर मुझे अनुपम प्यार और अद्भुत् आशीर्वाद तथा दिव्य प्रसाद देकर निहाल करने के लिये आया हुआ है। हे प्रभुवर! मेरा सौभाग्य है, नहीं–नहीं, मेरा महान् सौभाग्य है, मेरा परम सौभाग्य है जो तू आकर मुझे अपने दर्शनों से कृतार्थ कर रहा है। प्रभुवर तू अचानक आ गया, क्योंकि तू अतिथि जो ठहरा! नाथ! तू मेरा अतिथि है, नहीं–नहीं तू तो मेरा प्रेष्ठम्–प्रियतम् अर्थात् अत्यन्त प्यारा अतिथि है। इस संसार में भी मेरे समीप अनेकों अतिथि आते रहे और यहाँ मेरा उनके प्रति सतत् यह प्रयास रहा कि मैं उन्हें बैठने के लिए उत्तम से उत्तम आसन दूँ, खाने–पीने के लिये उन्हें बढ़िया से बढ़िया खाद्य एवं पेय पदार्थ परोसूँ, अपना मूल्यवान् से मूल्यवान् समय उन्हें प्रदान करूँ, श्रेष्ठ से श्रेष्ठ शय्या–शयन करने के लिये बिस्तर उन्हें प्रदान करूँ। तात्पर्य यह है कि उनकी सेवा–शुश्रूषा आव–भगत मैं बड़े प्यार और श्रद्धा से करता रहूँ। इस में सन्देह नहीं कि इस के प्रतिरूप में मुझे उन का प्यार भी खूब मिलता रहा, उनसे मुझे सुख–सौभाग्य का आशीर्वाद भी खूब मिलता रहा और तदनुसार मैं संसार में सब प्रकार से हरा–भरा, सुख–सुविधाओं से सम्पन्न भी सदा रहा, पर न जाने भगवन्! क्यों मुझे फिर भी उससे न कभी पूर्ण सन्तोष मिला, न ही मुझे कभी उससे पूर्ण तृप्ति मिली। तभी तो युग–युगान्तरों से, जन्म–जन्मान्तरों से उन सर्वविध सुख–सौभाग्यों से विरक्त हुआ–हुआ–सा मैं सदा तुम्हें ही पुकारता रहा, मैं सदा तेरा ही आह्वान करता रहा, मैं सदा तेरी ही राह तकता रहा, मैं सदा तेरी ही बाट जोहता रहा। मैं तब सोचता रहा कि न जाने कब

आयेंगे मेरे प्रियतम अतिथि, न जाने कब दर्शन देंगे मेरे प्यारे और सब जग से न्यारे प्रभुवर, न जाने कब... ? आखिर हार कर जब मैं ने ये नेत्र, अपने ये बाह्य चर्म चक्षु बन्द किये, हार कर जब मैं ने अपने ये कर्णकुहर बन्द कर लिये, तो मुझे अपना अत्यन्त प्यारा और जगत् के सब अतिथियों से सर्वथा न्यारा परम पूज्य अतिथि नजर आ गया। तब मैं ने सोचा कि इस सब से प्यारे और सब से न्यारे परम पूजनीय अतिथि के लिये मैं अपना कौन–सा आसन बिछाऊँ, फिर उसे किस जगह बिछाऊँ, फिर उस पर उसे कैसे बिठाऊँ, और उसका कैसे स्वागत करूँ, कैसे गुणगान करूँ ? तथा फिर उसके प्रति अपना प्रिय से प्रिय क्या कुछ समर्पण करूं... ? पर ज्यों ही मैंने उसको अपने हृदयासन पर बैठा कर उसका गुणगान करना आरम्भ किया तो मैं उसी में ही इतना खो गया कि फिर, मुझे अपना तो कुछ भान रहा ही नहीं। बस फिर तो मुझे सर्वत्र अपना प्रेष्ठ अतिथि–प्रियतम प्यारा प्रभु ही भासने लगा। फिर मुझे ऐसा लगा कि मेरा मन चाहा लक्ष्य मुझे मिल गया है, मेरा हार्दिक अभीष्ट मुझे मिल गया है और मैं उससे सर्वथा कृतार्थ ही हो गया हूँ–सर्वथा निहाल ही हो गया हूँ...।

पञ्चम रश्मिः

२ ३ १ २ ३ १२२
अग्ने विवस्वदाभर। –सामवेद पू० मं० १०

संक्षिप्त अन्वयार्थ–(अग्ने! विवस्वत् आभर) हे प्रभो! [तू हमें] ज्ञान दे।

अन्वयार्थ–(अग्ने[1] विवस्वत् आभर) हे प्रभो! तू हमें तमोनिवारक ज्ञान प्रदान कर।

व्याख्या–हे ज्ञानस्वरूप प्यारे परमेश्वर! हे ज्योतिःस्वरूप जगदीश्वर! तू हमें "**विवस्वत्**" दे, प्रकाश दे, ज्योति दे, ज्ञान दे। तू हमें वह विवस्वत् दे, वह प्रकाश दे, वह ज्योति दे, वह ज्ञान दे जो हमारे भीतर के कपाट खोल दे, जो हमारे भीतर के सर्वविध तम को छिन्न–भिन्न कर दे, जो हमारे अन्दर के सर्वविध अविद्यान्धकार को हम से सर्वथा पृथक् कर दे।

हे प्रभुवर! आपकी वह दिव्य ज्योति, आपका वह परम प्रकाश–आपका वह अनुपम दिव्य आलोक हमारे उस तम को छिन्न–भिन्न कर दे, हमारे उस अविद्यान्धकार को दूर कर दे, कि जिसके हमारे भीतर विद्यमान रहने से उस अविद्या के साथ–साथ अस्मिता–राग–द्वेष और अभिनिवेश रूपी क्लेश भी बसने लगते हैं, फलने–फूलने लगते हैं। इनके भीतर वर्त्तमान रहने से सदा हमारे अन्दर अज्ञानरूपी कोहरा छाया रहता है, जिसके कारण से हमें अपने से भिन्न किसी और के अद्भुत् व्यक्तित्व का आभास ही नहीं हो पाता। बस हम तब यही समझते रहते हैं कि मैं ही मैं हूँ, हम ही हम हैं, हमारी ही हमारी सत्ता संसार में है, और सब तो मानो जैसे कुछ हैं ही नहीं। फिर जो हमारे अनुकूल होते हैं, उनसे हमारा राग हो जाता है, और जो हमारे प्रतिकूल होते हैं, उनसे हमारा द्वेष हो जाता है। हृदय में राग–द्वेष के आते ही किन्हीं से तब हम अत्यन्त स्नेह करने लगते हैं और किन्हीं से हम अत्यन्त घृणा करने लगते हैं। आगे चलकर इसी राग–द्वेष के कारण ही जिनसे हमें राग होता है,

१. विवस्वत्–विवासयति–पृथक् करोति तम इति विवस्वज्ज्योतिः।

जिनसे हमारा प्यार होता है, उनकी हम सदा स्थान–स्थान पर शंसा–प्रशंसा करने लगते हैं और जिनके प्रति हमारे हृदय में द्वेष होता है उनकी हम सदा जगह–जगह निन्दा–चुगली आदि करते रहते हैं। जिनके प्रति हमारा तब राग होता है उन्हीं की सुख–सुविधाओं की हमें सदा चिन्ता रहती है, उन्हीं के खान–पान, रहन–सहन आदि का हम जी–जान से सदा ध्यान रखते हैं, और जिनके प्रति हमारे हृदय में द्वेष होता है उन की हमें कभी परवाह ही नहीं होती, उनकी सुख–सुविधाओं की, उनके खान–पान और रहन–सहन की हमें जरा भी कभी फिकर नहीं होती। जिनके प्रति हम में राग होता है उन्हीं के सुख–सौभाग्यों के लिये हमारे हृदयों से सदा आशीर्वाद निकलता है, सदा ये प्रार्थनाएँ निकलती हैं कि–"प्रभु उन्हें लम्बी आयु दे, प्रभु उन्हें सदा सुख–सौभाग्यों से सम्पन्न रखे।" पर इसके विपरीत जिनके प्रति हमारे हृदयों में द्वेष रहता है, उनके प्रति हमारे हृदयों से सदा बुरा ही बुरा सोचा जाता है। फिर यदि और भी इस विषय में हम आगे बढ़ते हैं तो फिर हम अपनी हार्दिक भावनाओं को व्यवहार में लाकर अपने प्रियों के प्रति शुभ कर्मों के रूप में प्रवृत्त होते हैं और अप्रियों के प्रति हिंसक बनकर प्रवृत्त होते हैं। कई बार वैसे हमारे कोई द्वेष के पात्र नहीं होते। पर चूंकि वे हमारे प्रियजनों के मार्ग में बाधक होते हैं इसलिये हमारे मनों में उनके प्रति भी द्वेष हो जाता है, और तदनुसार मन–वचन–कर्म से हम से उनके प्रति अप्रिय और कठोर–व्यवहार भी होने लगते हैं। इस तम–इस, अविद्या–इस अज्ञान के कारण ही हमें अपनी जान तो बड़ी प्यारी लगती है, अपने बन्धु–बान्धवों की जान भी हमें बड़ी प्यारी लगती है। अतः हम और वे कहीं समाप्त न हो जाएँ, यह अभिनिवेश, यह मृत्युरूप भय भी सदा हमारे भीतर वर्त्तमान रहता है। इस भय के कारण सदा हमारा यह हार्दिक प्रयास रहता है कि–"मैं कभी न मरूँ, हम कभी न मरें, और न ही हमारे ये प्रिय व्यक्ति कभी मरें...।"

इस प्रकार जब हमारे भीतर तम अविद्यान्धकार, अर्थात् अज्ञान अपना डेरा जमाए रहता है तो फिर उस समय हमें अतिकाम, अतिक्रोध, अतिलोभ, अतिमोह और अत्यहंकार आदि प्रिय लगते हैं। अतिकाम के कारण फिर हमें सदा विषय–

वासनाओं में डूबे रहने में ही सुख अनुभव होता है। इस अतिक्रोध के कारण हमें सदा दूसरों के प्रति क्रोध करने, दूसरों के प्रति गुस्सा करने, दूसरों की मन–वचन–कर्म से हिंसा करने में सुख अनुभव होता है, सदा दूसरों को सताना और परेशान करना हमें अच्छा लगता है, सदा दूसरों को तबाह और बर्बाद करने में हमें खुशी होती है। इस अतिलोभ के कारण हम सदा लोभी होकर धन के पीछे सदा पागल से बने रहते हैं, और तब हम यह सोचने लगते हैं कि धन आए, वह चाहे कैसे भी क्यों न आए। किसी की जेब काट कर आए, किसी की चोरी करके आए या किसी को मार करके आए, किसी को उजाड़ कर आए इत्यादि। अतिमोह के कारण हम किन्हीं व्यक्तियों पर मुग्ध होकर सदा यही सोचने लगते हैं कि–''ये हमारे बन्धु–बान्धव हैं, ये हमारे परिवार के सदस्य हैं, ये हमारे अपने हैं, अतः इनसे सदा हमारा लगाव रहता है। और हम तब यदि सोचते हैं तो फिर बस केवल उन्हीं की ही सुख–सुविधाओं के विषय में ही सोचते हैं। ऐसी अवस्था में फिर जो कुछ भी हमसे बनता हैं हम उनके लिये करते हैं। इतना ही नहीं इस अतिमोह के कारण ही फिर हम उनके लिये अनेकों पाप भी करते हैं, झूठ–सच भी बोलते हैं, अन्यों के प्रति अन्याय भी करते हैं, अन्यों की अवहेलना भी करते हैं अन्यों का अपमान और तिरस्कार भी करते हैं, नहीं–नहीं हम उनके लिये अन्यों पर बड़े–से–बड़ा अत्याचार भी करते हैं, अन्यों को कष्ट भी देते हैं, अन्यों को यहाँ तक कि समाप्त भी कर देते हैं। रेल वा बस में ही देख लीजिये–कितना भी कोई वृद्ध वा कमजोर व्यक्ति क्यों न खड़ा हुआ हो, कितनी भी कोई वृद्धा–बड़ी–बूढ़ी माँ क्यों न खड़ी हो वा गोद में बालक को लिये हुए कोई महिला बेचारी क्यों न खड़ी हो, पर हमारे युवक समर्थ पुत्र को तो बैठने के लिये जगह मिलनी चाहिये, भले ही और को चाहे मिले या न मिले। अपने प्रति अति मोह होने पर फिर हमें अपना समय तो बड़ा प्रिय, मूल्यवान् लगता है पर दूसरों का नहीं। उस समय शिष्टाचार और सद्व्यवहार को हम बिल्कुल भूल जाते हैं। पर फिर भी आश्चर्य यह होता है कि हम अपने को बड़ा ही सभ्य और बड़ा ही महान् समझते हैं। हमें उस समय यह तो

सदा सूझता रहता है कि–''अमुक को चाहिये कि वह हमारे प्रति ऐसा–ऐसा व्यवहार करे। अर्थात् हम यदि रेल में खड़े हों तो वह हमें प्रेम से बैठने को जगह दे, ताकि हम भी थोड़ा–सा बैठ लें और सहजरूप से यात्रा कर सकें। यद्यपि उस सीट पर चार के स्थान पर पाँच बैठे हुए होते हैं तो भी हमें वहाँ जगह दिखाई देती है। पर उसी सीट पर स्वयं गाड़ी में हम कभी चार के स्थान पर तीन भी बैठे हुए होते हैं तो भी हमें सीट खाली नहीं दिखाई देती, और न ही अगले व्यक्तियों की कुछ कठिनाई अनुभव होती है। इसी अविद्या के कारण हम सदा अहंकार में डूबे हुए मैं–मैं और ''हम ही हम'' करते रहते हैं। हम कभी यह सोच भी नहीं पाते कि मेरे और हमारे अतिरिक्त भी कोई दुनियाँ में रहता है।''

यह तो वह तम है, वह अविद्यान्धकार है, वह अज्ञानरूपी कोहरा है जिससे कि मैं अपने वा अपनों के अतिरिक्त किसी और को देख नहीं पाता, अपने एवं अपनों के अतिरिक्त किसी और को कुछ समझ ही नहीं पाता, अपने एवं अपनों के अतिरिक्त किसी और के कष्ट या असुविधा आदि का कुछ अनुभव कर ही नहीं पाता। अब जब इसी अज्ञान के कोहरे में हमें कोई इतना स्थूल व्यक्ति भी नहीं दिखाई पड़ता, तो फिर भला वह निराकार सूक्ष्म से सूक्ष्म भगवान् हमें कैसे दिखाई देगा, उसकी अनुभूति हमें कैसे होगी ? यही तो वह अविद्या है, यही तो वह तमोगुण का गहन अन्धकार है कि जिसके कारण अस्मिता–राग–द्वेष और अभिनिवेश नामक क्लेश भी हमारे भीतर अपने पाँव पसार लेते हैं और हमें तब सदा इन संसार की वस्तुओं व्यक्तियों और स्थानों में उलझाए रखते हैं। यही हमें किसी व्यक्ति, वस्तु और स्थान पर मरने–मिटाने के लिये सदा अहंकारवश अकड़ाए रहते हैं, सदा काम, क्रोध और मोह आदि के चंगुल में फँसाए रहते हैं। फिर भला कैसे हम परमेश्वर की ओर बढ़ पा सकते हैं, और कैसे उसके दर्शन पा सकते हैं। इसलिये हम तुझ उस प्यारे और सब जग से न्यारे प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि–''हे प्रभो! तू हमें विवस्वत् दे, तू हमें ज्ञान दे, तू हमें प्रकाश दे, तू हमें ज्योति दे, तू हमें तेज दे, तू हमें ओज दे। और ऐसा दे कि जिससे हमारा यह भीतर का तम–

अज्ञान छूट जाए, यह भीतर की अविद्या छिन्न–भिन्न हो जाए। इस इस भीतर के तम–अविद्या के छिन्न–भिन्न हो जाने पर फिर हमारे भीतर विद्या का, ज्ञान का पूर्णतया प्रकाश हो जायेगा। इससे फिर हमारे भीतर अस्मिता नहीं रहेगी, अहंकार नहीं रहेगा। अर्थात् तब हम यह नहीं समझेंगे कि केवल मैं ही मैं हूँ या केवल हम ही हम हैं इत्यादि। वरन् हमें तब यह भली–भाँति भासने लगेगा कि मेरे और हमारे अतिरिक्त भी संसार में अनेकों हैं। अर्थात् हमें तब मैं और हम के साथ तू, तुम और आप भी दिखाई देने लगेंगे। हमें तब अपने समान उनकी भी असुविधाएँ, कष्ट और आपत्तियाँ दिखाई देने लगेंगी। सचमुच उस समय फिर हमारे हृदय में न किसी के प्रति राग होगा, न किसी के प्रति द्वेष होगा, न कोई हमें तब अपना दिखाई देगा और न ही कोई हमें तब पराया प्रतीत होगा। हमें तो तब कवि के शब्दों में ''सभी हैं अपने और सभी हैं पराए'' प्रतीत होंगे। अब जब जग में हमारे हृदय में किसी के प्रति जब राग ही नहीं रहेगा तो फिर कब भला हम उससे चिपटे रहना चाहेंगे या उसको अपने साथ–साथ सदा चिपकाए रखना चाहेंगे या उसको अपने साथ–साथ सदा बनाए रखना चाहेंगे। इसी प्रकार फिर किसी व्यक्ति, वस्तु वा स्थान के प्रति जब हमारे हृदय में द्वेष ही नहीं रहेगा तो फिर किस वस्तु, व्यक्ति वा स्थान से हम् पृथक् होना चाहेंगे वा किस को हम अपने से पृथक् कर के दूर–परे फेंकना चाहेंगे। उस समय तो फिर हमारी भी स्थिति यह हो जायेगी कि हमारा अपने प्रति भी तब न राग रहेगा, न द्वेष रहेगा। अब जब हमारे हृदय में अपने प्रति भी जब राग नहीं रहेगा तो फिर हमारे हृदय से यह अभिनिवेश नाम का क्लेश अर्थात् मृत्यु का भय भी सदा–सदा के लिये विदा हो जायेगा। और हम तब मस्ती में आकर कवि के निम्न शब्दों को गुनगुनाने लगेंगे–''न कोई है अपना, न कोई पराया, सभी हैं अपने, सभी हैं पराए।'' तब यदि हम प्यार करना चाहेंगे तो सभी के साथ समान रूप से सहजी, न्याय भी सबके हम साथ सहज कर सकेंगे। तब हमें अपने समान दूसरों का सुख भी अपना ही सुख और दूसरों का दुःख भी अपना ही दुःख प्रतीत होगा। तब हमें अपने समान दूसरों की सुविधा भी अपनी ही सुविधा लगेगी,

अपने समय के समान दूसरों का समय भी मूल्यवान् ही प्रतीत होगा, तब हमें दूसरों की जान भी अपनी ही जान जैसी लगने लगेगी, दूसरों का हृदय भी अपने ही हृदय जैसा अनुभव होगा, दूसरों का घाव भी अपने घाव ही जैसा लगेगा, दूसरों की पीड़ा भी अपनी ही पीड़ा जैसी प्रतीत होगी। तब हम जब दूसरों को रेल में कष्ट में देखेंगे तो फिर अपनी भरी हुई सीट भी [भीतर के न्याय और प्रेम से] हमें खाली–खाली–सी प्रतीत होगी। और फिर हम बड़े प्यार से कहेंगे कि–''भाई साहब! आप भी बैठिये, बहिन जी! आप भी बैठिये, माँ जी! आप भी बैठिये...।'' यद्यपि अगले ऐसा भी कहें कि–''नहीं भाई साहब! हम खड़े ही ठीक हैं, हमारे बैठने से आपको कष्ट होगा, आपके इन नन्हें–मुन्ने बच्चों को असुविधा होगी।'' पर फिर भी हम कहेंगे–''भाई साहब! आप चिन्ता न करें, हमें कोई कष्ट नहीं होगा। हमारे इन नन्हें मुन्ने बच्चे को तो इसकी माँ इस छोटे बच्चे को गोद में ले लेगी। जब आप यहाँ हमारे पास बैठ जायेंगे और हमारी तरह जब आप को भी कुछ सुख मिलने लगेगा, कुछ आराम मिलने लगेगा तो उस समय जो हमें सुख मिलेगा उसमें तब ये सारे कष्ट ऐसे विलीन हो जायेंगे कि फिर उनका कुछ हमें पता ही नहीं रहेगा। हमारी तो उस अवस्था में फिर ऐसी स्थिति होगी कि जिधर को हम चल पड़ेंगे उधर ही हमारी राह बन जायेगी, उधर ही के सब व्यक्ति तब हमें अपने ही अपने दिखाई देने लगेंगे, उधर के सब घर हमें तब अपने ही घर प्रतीत होने लगेंगे, उधर की सब भूमियाँ [खेत–खलियान आदि] तब हमें अपनी ही सब भूमियाँ प्रतीत होने लगेंगी, उधर की सब बेटियाँ–बहिनें और माताएँ तब हमें अपनी ही बेटियाँ, बहिनें और माताएँ प्रतीत होने लगेंगी। हमें तब ऐसा लगेगा कि जैसे वे सब ग्राम, नगर वा जनपद आदि अपने परिचित से हों, जैसे सभी पथ परिचित से हों, सभी गलियाँ–मुहल्ले परिचित से हों जैसे सबी घर–परिवार के सदस्य परिचित से हों। और फिर हम उनके समीप पहुँच कर ऐसा अनुभव करेंगे जैसे कि ये सब लोग हमारे युग–युगान्तरों से मानो बन्धु–बान्धव ही चले आ रहे हों। हम सच–मुच तब उन में ऐसे एक हो जायेंगे जैसे कि हम में केवल शरीरों का तो पार्थक्य रह जायेगा पर मनों का

नहीं। हमें तब सारा संसार ही एक प्रकार से अपना परिवार-सा लगेगा और उस में रहने वाले सभी व्यक्ति भी तब हमें अपने भाई-बहिन, सखा-मित्र आदि प्रतीत होने लगेंगे। परन्तु यह सब कुछ होते रहने पर भी इस अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष आदि के हृदय से विदा हो जाने के कारण जब हम आँख मूंद कर बैठेंगे तो हमें तब ऐसा प्रतीत होगा जैसे कि वे सब उस हमारे परम प्यारे और सब जग से न्यारे प्राणप्रिय प्रभु में ही कहीं समा गए हों। क्योंकि वहाँ तो न फिर हमें कोई भूलता है और न ही फिर हमें किसी की याद आती है! सभी द्वन्द्व-सुख-दुःख, हानि-लाभ, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान, राग-द्वेष, जन्म-मरण आदि उसी में विलीन हो जाते हैं। फिर तो मैं जिधर ही देखता हूँ उधर ही उधर मुझे ज्योति ही ज्योति प्रतीत होती है, द्युति ही द्युति, प्रकाश ही प्रकाश दिखाई देता है। यत्र-तत्र-सर्वत्र सुख ही सुख, शान्ति ही शान्ति, आनन्द ही आनन्द अनुभव होता है। तब मैं बड़ी दूर-दूर तक निहारता हूँ तो मुझे उसके अतिरिक्त कुछ और दिखाई ही नहीं देता। इसी मध्य में जब कि मैं अपने प्रियतम में कुछ डूबा हुआ-सा रहता हूँ तो मेरे इन कानों में कहीं से हलकी-सी यह भनक-सी पड़ जाती है-किसी की मन्द-सी, ध्वनि-सी सुनाई दे जाती है कि-"कहाँ है तेरा वह प्रियतम प्रभु... ?" कहाँ है तेरा वह ज्योति स्वरूप, प्राणों से भी प्यारा प्रभु तब मैं सहज ही झट बोल उठता हूँ कि-"ओ भोले! तू यह बता कि कहाँ नहीं है वह मेरा प्रियतम प्रभु... ?" सचमुच मुजे तो तब सर्वत्र वही प्रभु ही प्रभु भासता है, ऐसा लगता है जैसे कि तब सारा संसार ही मेरी आँखों से ओझल हो गया हो। और केवल वह प्रभु ही प्रभु मेरे सम्मुख शेष रह गया हो। फिर न ही हमारे समीप कोई आता है और न ही हमारे से कोई विदा होता है। कविवर रहीम के शब्दों में तब मेरी कुछ ऐसी ही स्थिति-सी हो जाती है-

प्रीतम छवि नैनन बसी, पर छवि कहाँ समाए।
भरी सराय रहीम लखि, आप पथिक फिर पाए॥

षष्ठ रश्मिः

अग्निर्नो वंसते रयिम्। -सामवेद पू० मं० २२

सं० अन्वयार्थः-(अग्निः नः रयि वंसते) अग्नि हमें रयि-धन देता है।

अन्वयार्थः-(अग्निः नः रयि वंसते) प्रकाशस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, ज्योतिर्मय, तेजोमय प्रभु हमें रयि अर्थात् ऐश्वर्य प्रदान करे।

व्याख्या-जो अग्निस्वरूप है, ज्योतिःस्वरूप है, प्रकाशस्वरूप है, तेजःस्वरूप है, ओजःस्वरूप है, जो सारे संसार को अपनी ज्योति से ज्योतिर्मय बनाता है, अपने प्रकाश से प्रकाशमय बनाता है, अपने तेज से तेजोमय बनाता है, अपने ओज से ओजोमय बनाता है, जो सब संसार का अग्रणी-अगुआ बनकर सब का नेतृत्व करता है, जो सबको अपने अनुशासन में रखता है। फिर जो उसके अनुशासन में ठीक चलता है वह उसे जानता है, और जो उसके अनुशासन में ठीक नहीं चलता उसे भी वह सर्वज्ञ भगवान् भली-भाँति जानता है। इसीलिए ही तो वह उसको प्यार देता है और उसको दण्ड देता है।

वह केवल इस अग्नि, विद्युत्, चन्द्र, सूर्य आदि के द्वारा ही सब को प्रकाश नहीं देता वरन् वह तो वेद द्वारा भी सब को ज्ञान देता है, ताकि अग्नि, विद्युत्, चन्द्र, सूर्य आदि के प्रकाश में जैसे मनुष्य गर्त में गिरने और ठोकर खाने से बचता है वैसे ही वह ज्ञान के प्रकाश में पापों और अपराधों से भी बच सके। पर अगर कोई वेद को भी न पढ़ें और न ही किसी ज्ञानी-ध्यानी-विद्वान् के ही समीप सत्संग के लिए जाकर उसे सुने तो ऐसे मनुष्य पर भी वह प्रभु कृपा करता है, तभी वह उसे भी भीतर से सदा सन्मार्ग की ओर प्रेरित करता है। वह उसे भी प्रत्येक भले-बुरे कार्य पर अपना मूल्यवान् सुझाव देता है। यदि कोई कार्य उसके लिये अच्छा नहीं होता तो वह उसके करने से पूर्व ही उसे भय, शङ्का और लज्जा का बोध देता है और अगर उसके लिये वह कार्य हितकारी होता है तो वह उसके करने से पूर्व ही उसे आनन्द, उत्साह और निर्भयता प्रदान करता है। यही उस

प्रभु का उसको हर बुरे कार्य से पृथक् करने और हर उत्तम कार्य में लगे रहने की प्रेरणा देने का अपना ही एक अद्वितीय प्रकार, तरीका है। ऐसा वह ज्योतिर्मय–तेजोमय परम पिता परमात्मा हमें केवल यह ज्ञान–प्रकाश आदि ही नहीं देता वरन् वह तो हमें सब प्रकार का[1] रयि–धन–वैभव ऐश्वर्य भी प्रदान करता है। रयि जो कि प्रभु हमें प्रदान करता है वह केवल इसलिये ही नहीं होता कि उस से हम केवल अपने खाने–पीने, पहिनने–ओढ़ने, रहने–सहने, घूमने–फिरने, देखने–भालने, सुख–आनन्द प्राप्त करने के साधनों को खरीद कर केवल स्वयं ही सुख भोगते रहें, वरन् इसलिये भी प्रदान करता है कि समय आने पर हम उस रयि को, उस धन,–वैभव को परोपकार में भी लगा सकें, उसका दान भी कर सकें, उस में से औरों को भी खिला–पिला सकें, उससे औरों को भी पहना–ओड़ा सकें, उस से औरों को भी रहने–सहने खाने पीने आदि की सुख–सुविधायें उपलब्ध करा सकें।

इसी कारण से वह प्रभु जहाँ हमें अपने जीवन में सुख–शान्तिपूर्वक जीने के लिये रयि–नानाविध ऐश्वर्य प्रदान करता है वहाँ वह इस रयि का, इस ऐश्वर्य का हमें सम्भजन करना भी सिखाता है। वह ज्ञानस्वरूप प्रभु हमें वेद–ज्ञान द्वारा, संसार के नानाविध उदाहरणों द्वारा तथा भीतर से सत्प्रेरणा द्वारा सदा यह सिखाता रहता है कि–''हम प्रभु की न्याय–व्यवस्था से जो ऐश्वर्य प्राप्त करें, उसे ब्रह्मयज्ञ में लगाएँ, उसे देवयज्ञ, अग्नि–होत्र आदि उत्तम कर्मों में लगाएँ, उसे हम ज्ञानी, विद्वान्, संन्यासी, तपस्वी आदि श्रेष्ठ अतिथियों के मान–सम्मान में, सेवा–सत्कार में लगायें। अर्थात् हमें यह सदा ध्यान रखना चाहिए कि जो जन सदा निःस्वार्थ भाव से समाज कल्याण के उत्तम कार्यों को करते रहते हैं वे कहीं भूखे न रह जाएँ, कभी सर्दी–गर्मी में पीड़ित न हो जाएँ, उनके समाज कल्याण के कार्यों में कहीं अवरोध न आ जाए, इसलिये हमें उनके भोजन–आच्छादन, सुख–सुविधाओं का पर्याप्त ध्यान रखना चाहिये।

१. रयिरिति धननाम्, रातेर्वा स्याद् दानकर्मणः। निघण्टु
२. वंसते–ददाति–यच्छति। भगवदाचार्य, ददातु (सायण)

इन के अतिरिक्त अन्य भी कोई अभ्यागत आ जाए तो उस को भी हमारे द्वारा यथाशक्ति सुख–सुविधा मिल सके, ऐसा हम प्रयास करें। हमारे घरों में, हमारे वृद्ध माता–पिता, दादा–दादी आदि को भी उस हमारे धन से पर्याप्त सुख–शान्ति और आराम मिल सके, ऐसा हमें सदा ध्यान रखना चाहिए। इतना ही नहीं प्रभु ने जो हमें धन–वैभव दिया है, उस में से दीन–दुःखी–अनाथों को भी भाग जाना चाहिए। मनुष्यों की तो बात दूर रही चीटियों को, गौओं को, कौओं को कुकुरों आदि को भी उस में से भाग मिलता रहे, ऐसा हमें ध्यान रहना चाहिये।''

हमें प्रभु धन देता है तो उस का सम्यक् सम्भजन कर के ही स्वयं उपभोग करने की प्रेरणा भी वही देता है। हमें चाहिये कि हम पाँचों यज्ञों को करके ही स्वयं यज्ञशेष सेवन करें, ऐसी प्रेरणा भी वह हमें सदा साथ–साथ देता रहता है। यदि हम उस से धन–वैभव पाकर उसकी प्रेरणानुसार ही इसका उपभोग करते रहेंगे तो इस से हम उसके सदा स्नेह एवं कृपा के पात्र बने रहेंगे। क्योंकि वेदानुसार उसका यह व्रत है नियम है कि अहं दाशुषे विभजामि भोजनं मैं दाश्वान दानी महानुभाव को ही खूब देता हूँ। इसीलिए हमें चाहिये कि हम उस से धन–वैभव, प्यार और आशीर्वाद को पाते हुए उसी की ही सत्प्रेरणाओं के अनुसार आचरण करने में ही सदा तत्पर रहें।

सप्तम रश्मि

अग्ने मृड। –सामवेद पू० मं० २३

संक्षिप्त अन्वयार्थ–(अग्ने[१] मृड[२]) हे प्रभो! तू मुझे सुखी कर।

अन्वयार्थ–(**अग्ने! मृड**) हे प्रकाशस्वरूप, हे ज्ञानस्वरूप प्रभो! तू मुझे शरीर से सुखी कर, तू मुझे मन से सुखी कर, तू मुझे आत्मा से सुखी कर।

व्याख्या–हे प्रभु देव! मैं तुझ से ही क्यों यह प्रार्थना करता हूँ कि तू मुझे सुखी कर, इसीलिये ही तो न कि तू अग्निस्वरूप है, तू प्रकाशस्वरूप है, तू ज्ञानस्वरूप है, तू सुखस्वरूप है, तू आनन्दस्वरूप है। और फिर इसलिये भी मैं तुझ से प्रार्थना करता हूँ कि तू अपने प्रकाश से मुझे प्रकाशमय बनाना चाहता है, तू अपने ज्ञान से मुझे ज्ञानमय बनाना चाहता है, तू अपनी ज्योति से मुझे ज्योतिर्मय बनाना चाहता है, तू अपने सुख–सौभाग्य के साधनों से मुझे सुखमय सौभाग्यमय बनाना चाहता है, तू अपने ज्ञान प्रकाश से मुझे अपने कर्मों के आधार पर मिले हुए सर्वविध सुख–सौभाग्य के साधनों में ही सदा सुखी और शान्त रहने की शिक्षा देना चाहता है। हे प्रभो! अपने कर्मों के आधार पर ही मिले हुए धन–वैभव का संतोष पूर्वक उपभोग ही नहीं वरन् उसका त्यागपूर्वक उपभोग करने की शिक्षा देकर तू अपनी प्राप्ति से आत्मसुख–आत्मतृप्ति–आत्मानन्द भी मुझे देकर कृतार्थ करना चाहता है।

हे प्रभुदेव! तू मुझे सब प्रकार से शारीरिक सुख प्रदान करना चाहता है, तभी तो तूने इस संसार में नानाविध सुख के साधन उत्पन्न किये हुए हैं। फिर भी यदि मैं उन सुख के साधनों से दुःख पाता हूँ तो यह मेरी ही कमी है। तूने मुझ 'जौ' जैसा अत्यन्त सात्विक पदार्थ प्रदान किया है जिससे मेरे शरीर में सात्विक भावों का सञ्चार हो सकता है, पर अगर मैं ही उस को सड़ा–सड़ा कर उस की शराब बना–बना कर और उसे पी–पाकर उस से अपने स्वास्थ्य और सुख आदि को समाप्त करूँ तो वह मेरा ही दोष है। तूने गन्ना और अंगूर जैसे बड़े सुन्दर–सुन्दर रस और फल प्रदान किये, पर मैं ही उन्हें सड़ा–

सड़ा कर उन की शराब बना–बना कर पीऊँ और अपने सुख–शान्ति के भवन में आग लगाऊँ तो फिर भला मैं कैसे सुखी होऊँगा।

इतना ही नहीं प्रभु देव! तूने जहाँ मुझे ज्ञानेन्द्रियाँ–कर्मेन्द्रियाँ प्रदान कीं वहाँ उन के लिये नानाविध सुखदायक पदार्थ भी उत्पन्न किये। फिर उनका किस उत्तम ढंग से सेवन करके मैं सुखी रह सकता हूँ, शान्त रह सकता हूँ, तृप्त रह सकता हूँ, आनन्दित रह सकता हूँ, इसके लिये तू ने मुझे वेद–ज्ञान भी प्रदान किया, सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, अग्नि का प्रकाश भी दिया, और फिर इतने पर भी मैं यदि वेद का स्वाध्याय नहीं करता, ऋषि, मुनि, ज्ञानी, ध्यानी विद्वान् की भी संगति से प्रेरणा नहीं लेता इस सूर्य, चन्द्र, अग्नि, विद्युत के प्रकाश में भी पाप–तापों के गर्तों में गिरने से नहीं बचता और यहाँ तक कि तू स्वयं भी मेरे ही भीतर बैठा हुआ हर बुरे कार्य पर मुझे भय, शंका, लज्जा प्रदान कर के सावधान करता है, उस बुरे कर्म से मुझे पृथक् हटाने का प्रयास करता है, वा मुझे किसी अच्छे कार्य पर भीतर से आनन्द, उत्साह और निर्भयता प्रदान कर मुझे उस शुभ कार्य की ओर अग्रसर करता है, इतने पर भी यदि मैं बुराई से हटता नहीं और भलाई में लगता नहीं, तो फिर भला तू मुझे सुखी भी कैसे कर सकता है, मैं यदि अपने कर्मों के आधार पर उपलब्ध हुए सुख–सौभाग्य के साधनों का सन्तोषपूर्वक उपभोग नहीं करता और काम, क्रोध, लोभ आदि के कारण पर नारी, दूसरों की माँ–बहिन–बेटी को अभिलाषा भरी दृष्टि से देखता हूँ और फिर उसकी प्राप्ति के लिये प्रयास करता हूँ। और फिर यदि मेरे वैसा प्रयास करने पर भी कोई भला व्यक्ति मुझे उससे रोकता और टोकता है, तो मैं उसकी एक न सुन कर अपने निकृष्ट स्वार्थ में रुकावट डालने वाले उस सज्जन की भी हिंसा करता हूँ इत्यादि, तो फिर भला मुझे मानसिक सुख अर्थात् शान्ति मिले भी तो कैसे मिले?

इसी प्रकार मुझे प्रभु ने सब प्रकार का धन–धान्य प्रदान किया है, मुझे पुत्र, कलत्र और बन्धु–बान्धव आदि सब कुछ प्रदान किये हैं, मुझे रहने–सहने के लिये जमीन–जायदाद और सुन्दर–सुन्दर भवन प्रदान किये हैं, नानाविध सुन्दर–सुन्दर

दृश्यों को देखने को ये नेत्र दिये हैं, सुन्दर–सुन्दर ध्वनियों को सुनने को ये कान दिये हैं, सुन्दर–सुन्दर गन्ध को ग्रहण करने के लिये यह घ्राणेन्द्रिय दी है, नानाविध स्वादों का आस्वादन करने को यह रसना प्रदान की है, स्पर्श सुख को पाने के लिये यह स्पर्शेन्द्रिय प्रदान की हैं, फिर चलने–फिरने को हमें ये चरण दिए हैं, कार्य करने को हमें हाथ दिए, चिन्तन–मनन करने को हमें यह मन दिया, सोचने–विचारने को यह बुद्धि दी हैं इत्यादि। सब कुछ प्रदान करके उस सब वैभव का सन्तोष पूर्वक ही नहीं वरन् त्यागपूर्वक ही उपभोग करने का सदुपदेश भी वेदों में दिया है, कमल के पत्ते की नाईं जल में रहकर भी जल से ऊपर रहने के लिए सुन्दर–सुन्दर निदर्शन भी दिए हैं, फिर इन सर्वविध पदार्थों को साधन समझकर इन साधनों से साध्य को पाने और अपने जीवन को सुखी शान्त एवं तृप्त करने के उपाय बताने पर भी यदि फिर भी इस संसार क्षेत्र में रहता हुआ मैं अविद्यान्धकार में फँसा हुआ–हुआ अहंकार वश किसी वस्तु, व्यक्ति और स्थान से रागवश चिपटा रहूँ और किसी से द्वेषवश हटता फिरूँ और उसी में ही मैं अपने इस मूल्यवान् जीवन की इति–श्री कर दूँ, तो फिर प्रभु मुझे कैसे सुखी करे, कैसे शान्त करे, कैसे तृप्त करे।

यों तो प्रायः अज्ञानवश इन्हीं संसार के सर्वविध सुख–सौभाग्यमय साधनों को ही मैं एवं मेरे जैसे प्रायः अनेकों व्यक्ति सुख के साधन समझते हैं और किसी अंश में ये ये सुख के साधन हैं भी। इसलिये सारा संसार पागल होकर इन साधनों को जुटाने में लगा हुआ है। सच कहूँ तो ऐसे इनको इक्ट्ठा करने में यह मनुष्य लगा हुआ है कि न इस को दिन में चैन है और न रात में आराम है। रात–दिन इसे यही चिन्ता है कि किसी तरह पैसा आए, किसी तरह धन आए, किसी तरह कार आए, किसी तरह कोठी मिले, किसी तरह पद मिले, कुर्सी मिले, आदि–आदि। कई व्यक्तियों को स्वप्नों में भी बड़े–बड़े व्यापार करते हुए देखा गया है, किसी की स्वप्न में ग्राहक पर ''छत्री भी लेणी कि नहीं लेणी'' छत्री–छाता बेचने ही की अभिलाषा देखी गयी है, कई का कपड़ा बेचने का ऐसा स्वभाव पड़ गया है कि रात्रि को स्वप्न में ग्राहक से भाव बन जाने पर वह अपनी

अंगुलियों से अपना कुर्त्ता–कमीज भी फाड़ते हुए देखा–सुना गया है। कई का पेट दिन भर इस संसार का उपभोग करने से भी भरता नहीं, अतः वे स्वप्नों में भी न जाने क्या–क्या पकवान खाते रहते हैं, न जाने कितनी कीमती–कीमती आईसक्रीमें खाते रहते हैं। सारा दिन भोगों में रत रहते हुए भी विषय–वासनाओं से उनका पेट नहीं भरता तो वे स्वप्नों में भी वे विषय–वासनाओं में डूबे रहते हैं। गजब तो यह है कि कभी–कभी खाते–खाते मनुष्य का पेट तो भर जाता है पर मन नहीं भरता, आँखे देख–देख कर थक–थक जाती हैं, और वे अब बन्द होना चाहती है, पर यह मानव उन्हें जबरदस्ती जगा–जगा कर चलचित्रों को, नाना प्रकार के नाटकों को ही देखना चाहता है। ऐसे सारे संसार के वैभव को अपने ही पास जमा कर के एक मानव उस में भी जी भरकर डुबकी लगा–लगा कर सुखी होना चाहता है, पर उपनिषद् कहती है कि जिस दिन कोई चर्मवत् आकाश को चटाई बना कर लपेट कर उस को अपनी बगल में रख सकेगा उसी दिन वह परमात्मा को बिना जाने सुखी हो सकेगा। अर्थात् जैसे यह कार्य असम्भव है, वैसे ही परमात्मा को बिना जाने इस सारे संसार में सिर पटक कर भी मनुष्य कभी वास्तविक सुख नहीं पा सकता, कभी सच्चा सुख नहीं पा सकता, कभी तृप्त और आनन्दित नहीं हो सकता।

सो हे प्रभुवर! तू मुझे सुखी कर। अर्थात् तू मुझे ऐसी बुद्धि दे, ऐसा बोध दे कि मैं अपने कर्मों के अनुसार धन–वैभव, पुत्र–कलत्र आदि सब पाकर से तेरे दिये हुए वेद–ज्ञान एवं तेरी सत्य–प्रेरणा के आधार पर उस का उपभोग कर सकूँ। उस को साधन समझ कर मैं सन्तोषपूर्वक उस का उपभोग करने में ऐसा प्रयास करूँ कि मैं इन साधनों में ही कहीं उलझ कर न रह जाऊँ वरन् इन साधनों से तुझ साध्य को पाने का प्रयत्न करूँ ताकि मैं वास्तविक सुख पा सकूँ, परम सुख पा सकूँ, परम शान्ति प्राप्त कर सकूँ, परमानन्द को प्राप्त कर सकूँ।

अष्टम रश्मिः

अग्ने रक्षाणो अंहसः। (१ ३ १ २ ३) –सा० पू० मं० २४

संक्षिप्त अन्वयार्थ–(अग्ने! नः अंहसः रक्ष) हे प्रभो! तू हमें पाप से बचा।

अन्वयार्थ–(अग्ने! नः अंहसः रक्ष) हे ज्ञानस्वरूप प्रकाशस्वरूप प्रभो! तू हमें अंहस् से बचा, तू हमें पाप से बचा।

व्याख्या–हे ज्ञान रूप ज्योति के अनुपम स्रोत प्रभुवर! तू हमें अंहस् से बचा तू हमें पाप से बचा, तू हमें हिंसा से बचा, तू हमें झूठ से बचा, तू हमें अत्याचार से बचा, तू हमें दुराचार से बचा, तू हमें सर्वविध अपराधों से बचा। क्योंकि यह जो अँहस् है, यह जो हिंसा है, यह जो अपराध है, यह जो पाप है, यह जो झूठ है, यह जो अत्याचार है, यह जो दुराचार है, यह जो व्यभिचार है, यह जो अपराध है, यह सर्वप्रथम अपने करने वालों की ही चहुँ ओर से हिंसा करता है, यह अपने करने वालों को ही पहले सब ओर से मार देता है, यह अपने करने वालों को सर्वप्रथम ही सब प्रकार से सब ओर से तबाह और बर्बाद कर देता है, नहीं–नहीं भीतर–बाहर से सब तरह से वह मनुष्य को स्वाहा कर देता है।

यह अँहस्, यह पाप की वृत्ति पहले–पहल जब हमारे भीतर आती है तो वह हमें भीतर से मारती है। जैसे चोर–डाकू जब आते हैं तो वे पहले प्रकाश के, फोन के समस्त स्रोत समाप्त करते हैं, अर्थात् वे बिजली, फोन के कनेक्शन काट देते हैं। वैसे ही यह अँहस्, पाप की वृत्ति जब हमारे भीतर आती है तो सर्वप्रथम यह हमारे विज्ञान पर, हमारे विवेक पर, हमारी बुद्धि पर आक्रमण करती है। इससे तब हमारी बुद्धि मारी जाती है, हमारी अक्ल पर तब ताला लग जाता है, हमारा विवेक तब समाप्त हो जाता है। अब जब हमारे सोचने समझने वाली बुद्धि ही मारी गयी, जब हमारी बुद्धि ही भ्रष्ट हो गयी, तो फिर भला हमारा आचरण कैसे उत्तम रह सकता है, हमारा व्यवहार कैसे पवित्र रह सकता है? इस प्रकार विवेक भ्रष्ट

होने पर फिर भला हमारे जीवन में रह ही क्या जाता है, फिर भला हम ऐसे जीवन में जीकर भी क्या कर सकते हैं?

यह अँहस्, यह पाप की वृत्ति हमारे भीतर प्रवेश करते ही हमारी आत्मा को मारती है, यह हमारी बुद्धि की सोचने–समझने की शक्ति को समाप्त करती है, यह मन की मनन करने की शक्ति को समाप्त करती है, यह बुद्धि को सन्मार्ग से भ्रष्ट करती है, यह शनैः–शनैः हमारे आचरण में आने पर तो फिर बस यह पाप की वृत्ति हमारे शरीर को ऐसा मार देती है, ऐसा जर–जरीभूत कर देती है, ऐसा खोखला बना देती है कि फिर उस में किसी प्रकार के उत्तम कार्य करने की सामर्थ्य ही नहीं रहती, मन में भी तब किसी विशेष कार्य के करने का उत्साह नहीं रहता। ऐसा प्रतीत होता है तब जैसे कि वह व्यक्ति जीवित ही मरा हुआ–सा हो। क्योंकि उसके जीवन में फिर उत्साह उमंग और कोई हरकत विशेष तो कुछ दीखती नहीं, बस यों ही संसार पर वह एक भार स्वरूप–सा ही रह जाता है।

पाप वृत्तियों के भीतर प्रवेश करते ही उनका कुछ ऐसा प्रभाव–सा होता है कि सब के सब ज्ञान–प्रकाश के स्रोत कुछ बन्द से हो जाते हैं और मनुष्य तब कुछ किंकर्त्तव्यविमूढ़–सा हो जाता है–"मैं क्या करूँ क्या न करूँ, यह निर्णय तब वह नहीं कर पाता... ?"

अतः हे प्रभुवर! हम तुझसे प्रार्थना करते हैं कि हमें तू अँहस् से बचा, हिंसा से बचा, दुष्टाचार से बचा, अन्याय से बचा, अपराध से बचा, झूट से बचा।

क्योंकि जब ये पाप वृत्तियाँ हमारा घेराव करती हैं तो फिर ये हमें बाहर से मारती हैं और यदि ये पाप वृत्तियाँ हमारे भीतर घुस जाती हैं तो फिर बस तब तो हमारी खैर ही नहीं रहती, क्योंकि ये तब हमारी तन नगरी में ऐसी आग–सी लगा देती हैं कि फिर वहाँ जो उत्तम वृत्तियाँ होती हैं वे भी न जाने कहाँ लुक–छिप जाती हैं या इधर–उधर भाग जाती हैं। फिर तो बस इन पाप वृत्तियों का हमारे भीतर साम्राज्य–सा छा जाता है। और इनका एक छत्र राज्य–सा हो जाता है। इस तन नगरी के प्रधान कर्मचारियों, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, ज्ञानेन्द्रियों और कमेन्द्रियों को तब ये अपने वश में कर लेती

हैं। तब इसका राजा आत्मा भी पराधीन–सा हुआ–हुआ वही सब कुछ करता रहता है जो कि ये सब वृत्तियाँ कराती उससे रहती हैं।

यह अँहस् क्या है, यह पाप क्या है ? यह अँहस् वह है, यह पाप वह है, जो निरन्तर मानव को नीचे ही नीचे ले जाता है। जब यह हमारे भीतर प्रवेश कर जाता हैं तब हमें जो नहीं सोचना चाहिये वह हम सोचने लगते हैं, और जो हमें सोचना चाहिये वह हम सोच नहीं पाते, तब जो हमें नहीं देखना चाहिये वह हम देखने लगते हैं, और जो हमें देखना चाहिये वह हम देख नहीं पाते, फिर जो हमें नहीं पढ़ना चाहिये वह हम पढ़ने लगते हैं, और जो हमें पढ़ना चाहिये वह हम पढ़ते नहीं, फिर जिसको हमें[1] जैसा नहीं समझना चाहिये उसको हम वैसा समझने लगते हैं, और जिसको जैसा हमें समझना चाहिये उस को हम वैसा समझ नहीं पाते, फिर जिस को हमें नहीं सुनना चाहिये उसको हम सुनने लगते हैं और जिस [सत्संग आदि] को हमें सुनना चाहिये उस को हम सुन नहीं पाते, फिर जिसका हमें संग नहीं करना चाहिये उस का हम संग करते हैं और जिसका हमें संग करना चाहिये उस का हम संग करते नहीं, फिर जिधर हमें नहीं जाना चाहिये उधर हम जाते हैं और जिधर हमें जाना चाहिये उधर हम जाते नहीं, फिर जो कुछ हमें नहीं सूँघना चाहिये वह हम सूँघने लगते हैं, और जो हमें सूँघना चाहिये वह हम सूँघते नहीं, फिर जो कुछ हमें नहीं पीना चाहिये वह हम पीने लगते हैं और जो कुछ पीना चाहिये वह हम पीते नहीं, फिर जो कुछ हमें नहीं खाना चाहिये वह हम खाने लगते हैं और जो कुछ हमें खाना चाहिए वह हम खाते नहीं। तात्पर्य यह है कि फिर हमें जो कुछ भी नहीं करना चाहिए वह सब हम करने लगते हैं और जो कुछ हमें करना चाहिए वह सब हम करते नहीं....।

---

१. जैसे नकल से बचाने वाले को हमें अपना हितैषी समझना चाहिये पर उसे हम अपना शत्रु समझते हैं, और नकल कराने वाले को अपना मित्र आदि नहीं समझना चाहिये पर उसे हम अपना मित्र समझने लगते हैं।

इस का परिणाम हे प्रभुवर! तब यह होता है कि फिर हम तेरी दृष्टि में गिर जाते हैं, नहीं–नहीं सारे संसारे की दृष्टि में गिर जाते हैं, पतित हो जाते हैं, सर्वथा मिट्टी में मिल जाते हैं। फिर न हम हे प्रभुवर! इस संसार में किसी के स्नेह–सहानुभूति, सेवा–सम्मान और सहायता के पात्र रहते हैं और न ही फिर तेरे ही प्यार और आशीर्वाद के पात्र रह पाते हैं, उस समय तो फिर हे प्रभुवर! हम सारे संसार और तेरे सम्मुख ही नहीं गिर जाते हैं और घृणा के पात्र ही नहीं बन जाते हैं वरन् उस समय तो हम अपनी दृष्टि में भी गिर जाते हैं। हमें तब अपने आप से भी घृणा हो जाती है। फिर तो सचमुच हमारे लोक–परलोक दोनों ही बिगड़ जाते हैं। अतः हम आप से प्रार्थना करते हैं कि हे प्राणप्रिय प्रभुवर! तू हमें पाप से बचा और उसके परिणामस्वरूप होने वाले ताप से भी तू हमें बचा।

नवम रश्मिः

अग्निं[१] नक्षन्तु[२] नो[३] गिरः[१२]। –साम० पू० मं० ४७

संक्षिप्त अन्वयार्थ–(**अग्निं नः गिरः नक्षन्तु**) अग्निस्वरूप प्रभु को हमारी वाणियाँ पहुँचें।

अन्वयार्थ–(**अग्निं नः गिरः नक्षन्तु**) प्रकाशस्वरूप प्रभु को हमारी स्तुतियाँ पहुँचे, हमारी पुकारें पहुँचें।

व्याख्या–जो अग्निस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है, प्रकाशस्वरूप, है, ज्योतिःस्वरूप है, तेजःस्वरूप है, ओजःस्वरूप, सुखस्वरूप है, आनन्दस्वरूप है, उसी प्यारे और सब जग से न्यारे प्रभु को हमारी वाणियाँ पहुँचें, हमारी स्तुतियाँ पहुँचें, हमारी पुकारें पहुँचें।

जिस ज्ञानस्वरूप प्राणप्रिय प्रभु की प्राप्ति के लिये सभी देव, विद्वान्, तपस्वी, ज्ञानी, ध्यानी, योगी, संन्यासी आदि नानाविध व्रतों का पालन करते हैं, अर्थात् अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह जैसे महान् व्रतों को अपनाते हैं, जिस ज्ञानस्वरूप प्रभु के लिये ये सब नाना प्रकार से सर्दी–गर्मी, भूख–प्यास, सुख–दुःख, मान–अपमान, सत्कार–तिरस्कार आदि द्वन्द्वों को बड़े सहज स्वभाव से सहन करते हैं, जिस ज्योतिःस्वरूप प्रभु के लिये ये सब अपने स्थूल–सूक्ष्म शरीर को सदा शुद्ध–पवित्र रखने का जी–जान से प्रयास करते हैं, जिस सुखस्वरूप प्रभु के लिये ये सब हर परिस्थिति में सन्तुष्ट, हरहाल में मस्त रहने का प्रयत्न करते हैं, जिस दिव्य देव के लिये ये सब नाना प्रकार के तप करते हैं, जिस परम देव के लिये ये सब बड़ी श्रद्धा से स्वाध्याय करते हैं, बड़ी रुचि से सत्संगों में जाते हैं, जिस सर्वाग्रणी प्रभु के लिये ये सब स्थिर आसन में बैठकर प्राणायाम इत्यादि का अभ्यास करते हैं, ये सब इन्द्रियों को कछुए के समान विषयों से पराङ्मुख कर अपने भीतर ही समेट लेने का पुरुषार्थ करते हैं, जिस परम आनन्दस्वरूप प्रभु के लिये ये सब यम–नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार पूर्वक धारणा–ध्यान और समाधि का बड़ी श्रद्धा–

भक्ति से अभ्यास करते हैं, ये सब अपने मन को सर्वथा निर्विषय बना–बना कर उसमें उसी प्रभु को ही विराजमान कर, उसकी आत्मसमर्पण पूर्वक आराधना करने का सतत् अभ्यास करते हैं, सचमुच वही प्राणप्रिय ज्ञानप्रकाश, सुख–आनन्द और उत्साह का अद्भुत् स्रोत प्रभुवर अपने सच्चे–सुच्चे उपासक को हर प्रकार से सुख–सौभाग्यों से सौभाग्यों और महासौभाग्यों से सदा सम्पन्न करता है। अर्थात् उसको वह सब प्रकार से बढ़ाता है, ऐसे उस महान् दिव्य से दिव्य, प्रिय से प्रिय, श्रेष्ठ से श्रेष्ठ, ज्येष्ठ से ज्येष्ठ भगवान् को हमारी स्तुतियाँ, हमारी प्रार्थनायें पहुँचें।

वास्तव में हम सब चाहते यही हैं कि हम सब उस प्रकाशस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप प्रभु की ही स्तुति करें, प्रार्थना करें और उपासना करें, परन्तु हमारे पथ में अनेकों ऐसे व्यक्ति आते हैं जो हमारी राह में रोड़े अटकाते हैं, जो हमको भ्रम में डालते हैं। और अन्त में वे हमें परमात्मा से विमुख कर अपने अभिमुख कर लेते हैं। इस प्रकार हम गुरुडम के चक्र में आकर उन व्यक्तियों की लुभावनी बातों में आकर उन्हीं को ही अपना इष्टदेव समझ कर, उन्हीं को ही अपना आराध्य देव समझ कर, उन्हीं की स्तुति–प्रार्थना और उपासना करने लगते हैं, उन्हीं की ही सेवा–शुश्रूषा और गुणगान में ही तब हम अपने परमोद्देश्य की इति–श्री समझ लेते हैं। इस प्रकार जब हम वर्षों उस प्यारे और सब जग से न्यारे सर्व संसार के रचियता तथा सभी प्राणियों के कर्मफल विधाता महान प्रभु को भूल कर इन सामान्य जन्मते और मरते हुए अल्पज्ञ और अल्प सामर्थ्यों वाले कर्मफल की दृष्टि से पराधीन इन बन्दों की ही पूजा–प्रशंसा और जप–तप करते रहते हैं, तो फिर हमारे हाथ कुछ लगता नहीं।[1] इस पर फिर हम सोचते हैं, स्वाध्याय करते हैं, और सत्संग करते हैं, तो सौभाग्यवश फिर कभी हमें किसी सच्चे–सुच्चे महापुरुष का संग मिल जाता है और फिर कहीं जा–जा कर हम को यह बोध हो पाता है कि–

---

१. नानक इको सिमरिये जो जल थल रिहा समाय।
ओरन को का सिमरिये जो जन्मे ते मर जाए॥

"नेन्द्रं देवममंसत"–"हे मनुष्यो! तुम कहीं इस संसार के किसी इन्द्र–राजा, किसी धनैश्वर्य से सम्पन्न व्यक्ति वा किसी इन्द्रियों के स्वामी संयमी किसी महापुरुष को ही अपना आराध्यदेव, अपना उपास्य देव मत मान बैठना। क्योंकि ऐसा करने पर फिर तुम अपने उद्देश्य से भटक जाओगे....।" वेद में अन्यत्र भी कहा गया है, जैसे–**"मा चिदन्यद् विशंसत सखाय मा रिषण्यत।"** "हे मनुष्यो, हे प्रिय मित्रो! तुम परमपिता को छोड़ कर किसी दूसरे की प्रशंसा मत करना, तुम उस परमैश्वर्य के स्वामी सर्वेश्वर को छोड़ कर किसी अन्य का गुण–गान मत करना, किसी अन्य की उपासना मत करना। और ऐसा कर के हे मेरे प्रिय सखाओ! तुम कहीं व्यर्थ में ही परेशान न होना....।"

सौभाग्यवश इस बोध के प्राप्त होने पर जब हम अपने बीते हुए जीवन पर दृष्टिपात करते हैं तो तब हमें ऐसा प्रतीत होता है कि–"हम ने इस उत्तम मानव जीवन के अनेकों मूल्यवान् वर्षों को यों ही इन सामान्य जन्मते–मरते हुए अल्पज्ञ व्यक्तियों के गुणगान में ही खो दिये।" तब हम हृदय से प्रायश्चित करते हुए यह सोचते हैं कि–"सचमुच यदि हम इन सब स्वयं ईश्वर बने बैठे हुए या किन्हीं अपने शिष्यों द्वारा परमात्मा बना कर सिंहासन पर बिठा दिये हुए व्यक्तियों की पूजा और आराधना से ऊपर उठ कर उस परम पूज्य सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी सर्वेश्वर भगवान् की श्रद्धा–भक्ति में मग्न होकर स्तुति करते होते, प्रेमभक्ति में विभोर होकर गुण–गान करते होते, तो आज हम न जाने कहाँ के कहाँ पहुँच गये होते। अर्थात् उसके प्यार और आशीर्वाद के अनुपम पात्र बन गए होते।" पर चलो "बीती ताहि बिसार दे, आगे की सुधि ले"–वाली कहावत के अनुसार हम आज पुनः अपनी राह पर आरूढ़ होते हैं और उस परम प्यारे प्रकाशस्वरूप प्रभु के प्यार में विभोर होकर उसकी स्तुति करते हैं, उस का गुण–गान करते हैं। हम हृदय से चाहते हैं कि उस प्रकाशस्वरूप प्रभु को हमारी श्रद्धा–भक्ति में मग्न होकर की हुई स्तुतियाँ पहुँचे, हमारी पुकारें पहुँचें।

दशम रश्मि

नि त्वामग्ने मनुर्दधे। –साम० पू० मं० ५४

संक्षिप्त अन्वयार्थ–**(अग्ने! मनुः त्वां निदधे)** हे प्रभो! मनु तुझको धारण करता है।

अन्वयार्थ–हे ज्ञानस्वरूप प्रभो! विवेकीजन तुझको अपने हृदय में धारण करता है।

व्याख्या–**अग्ने! मनुः त्वां निदधे)** हे ज्ञानप्रकाश के अद्वितीय स्रोत प्रभुवर! जो मनु होता है, मननशील होता है, विचारशील होता है, सोचने–समझने वाला होता है, ज्ञानशील होता है, अर्थात् जो ज्ञान के कणों को सदा चुगता रहता है, जो अवबोधनशील होता है, अर्थात् जो किसी भी वस्तु की तह तक जाने का हार्दिक प्रयास करता है, जो हर कार्य का आगा–पीछा, उतार–चढ़ाव, आरम्भ–परिणाम सब भली–भान्ति देखता है, ऐसा मननशील–विचारशील मानव–चिन्तनशील बुद्धिमान मानव **(त्वां निदधे)** तुझ प्रकाशस्वरूप प्रभु को अपने भीतर धारण करता है, तुझ ही को अपने हृदयासन पर विराजमान करता है, तुझ ही में रमण करता है, तेरे ही जप–तप, मनन–चिन्तन आदि में अपना सर्वविध सुख–सौभाग्य और महासौभाग्य समझता है। इसलिये वह जब सोचता है तो तेरे बारे में ही सोचता है, वह जब पढ़ता है तो तेरे बारे में ही पढ़ता है, वह जब लिखता है तो तेरे बारे में ही लिखता है, वह जब बोलता है तो तेरे बारे में ही बोलता है, वह जब गाता है तो तुझे ही गाता है, वह जब ध्याता है तो तुझे ही ध्याता है, वह जब समाधिस्थ होता है तो तुझ में ही समाधिस्थ होता है।

जो मनु है, मननशील है, वह अपने सुख के लिये, अपने कल्याण के लिये सदा श्रेय मार्ग को ही चुनता है, प्रेयमार्ग तो फिर उसे भाता ही नहीं, सांसारिक सुख–सौभाग्य तो फिर उसे सुहाता ही नहीं। क्योंकि स्वाध्याय–सत्संग और मनन–चिन्तन आदि से उसने यह भली–भान्ति समझ लिया है कि संसार के सर्वविध सुख–सौभाग्य तो क्षणिक ही हैं, अतः इन से पूर्ण तृप्ति

सम्भव नहीं, इन से परम कल्याण सम्भव नहीं। सारी पृथिवी के सब पदार्थ भी यदि हमें प्राप्त हो जाएँ तो भी हम इन से स्थायी सुख–परम सुख–परमानन्द पा नहीं सकते। याज्ञवल्क्य के शब्दों में–"हे[1] मैत्रेयि! यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्याद्–अमृत त्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति।" हे मैत्रेयि! जैसे धन–धान्य आदि भौतिक साधन वालों का सांसारिक दृष्टि से सुखमय जीवन होता है, वैसा ही आप का होगा, परन्तु अमरत्व की तो इस धन–वैभव से आशा नहीं करनी चाहिये।

इस प्रकार सांसारिक धन–वैभव से तो जैसे सांसारिक मनुष्य नानाविध सुख के साधनों को पाकर सुखी होते हैं, वैसे ही हम भी इन साधनों से सुख पा सकते हैं। स्थायी सुख–स्थिर आनन्द–परमशान्ति तो इससे सम्भव ही नहीं है, यही वह रहस्य था जिसको मैत्रेयी ने जान लिया था, अतः वह इससे ऊपर उठ गयी थी। तभी फिर वह याज्ञवल्क्य से यह कह सकी थी कि– "हे याज्ञवल्क्य! जब इस सर्वविध धन धान्य से रुपये पैसे से सोने चाँदी, खान–पान से करूँगी। यदि मुझे अमरत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती है तो फिर मैं इसे लेकर क्या करूँगी।" यही वह भेद था जिसे नचिकेता ने भली–भाँति भाँप लिया था और फिर उसके सम्मुख यह रहस्य खुल गया था कि–**"न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः"** तभी तो वह सर्वविध दुर्लभ कामनाओं को बड़ी मस्ती से ठुकरा सका था।

यही वह रहस्य था जो श्रीराम के अनन्य भक्त हनुमान् के सामने खुल गया था। तभी तो उसकी अनुपम सेवाओं पर मुग्ध होकर जब महारानी सीता जी ने उस पर प्रसन्न होकर उसे अपनी अत्यन्त मूल्यवान् मोतियों की माला उतार कर पुरस्कार रूप में दी थी तो हनुमान् जी ने बड़ी श्रद्धा से उसे ले लिया था और फिर उसके एक–एक मोती को सब ओर से देखा–भाला पुनः उस एक–एक मोती को तोड़–तोड़ कर भी भीतर–बाहर से देखा–भाला तथा इधर–उधर, दाएँ–बाएँ फेंक दिया। यह सब देखकर सीता को बड़ा दुःख हुआ और वह बोली कि– "आखिर है तो तू वानर ही, है तो तू नासमझ ही। तुझको क्या

१. बृहदारण्यकोपनिषद्।

पता कि इस माला के एक–एक मोती का क्या मूल्य है...।" इस पर हनुमान् जी बोले, "माँ मैं मूर्ख नहीं, नासमझ नहीं, हाँ एक बात अवश्य है, वह यह है कि माला तुम्हारी दृष्टि में मूल्यवान् हो सकती है पर मेरी दृष्टि में नहीं, क्योंकि मैं राम का भक्त हूँ, इन मूल्यवान मोतियों वा मूल्यवान मणियों का नहीं।" इसलिये माँ मैंने माला के एक–एक मोती को तोड़–तोड़ कर देखा कि मैं जिसका भक्त हूँ, वह राम इनमें कहीं है भी कि नहीं? सो हे माँ! सब तरह से देखने–भालने पर भी मुझे इनमें से किसी एक में भी अपना पूज्य प्यारा राम राम प्रतीत नहीं हुआ। अतः मैंने एक–एक करके इन सब मोतियों को फैंक दिया। अतः माँ! जहाँ मेरा प्यारा राम नहीं उस हर वस्तु को मैं तुच्छ समझ कर फैंकने में ही अपना कल्याण समझता हूँ।[1]

१. इस घटना का तथ्य क्या है, यह तो इतिहास जाने, पर इससे एक बहुत बड़ा पाठ लिया जा सकता है। अतः इसे यहाँ दिया गया है।

सत्य के
ग्रहण करने
और
असत्य को
छोड़ने में
सर्वदा
उद्यत रहना
चाहिए।

–महर्षि दयानन्द

सबसे
प्रीतिपूर्वक
धर्मानुसार,
यथायोग्य
वर्त्तना चाहिए।

–महर्षि दयानन्द

प्रथम रश्मिः

ईशावास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

–यजुः० ४०.१

संक्षिप्त अन्वयार्थ–**(यत्किञ्च जगत्यां जगत् अस्ति)** जो कुछ भी इस जगती में जगत् है **(तत् इदं सर्वम् ईशा वास्यम्)** वह यह सब ईश्वर के द्वारा बसा हुआ है, ईश्वर के द्वारा आच्छादित है।

अन्वयार्थ–**(यत किंच जगत्यां जगत्)** जो कुछ भी इस जगती में[1] जगत् है जो कुछ भी इस सृष्टि में संसार है, जो कुछ भी इस गतिमान् ब्रह्माण्ड में गतिमान् यह प्राणिसमूह एवं पदार्थ समूह है, जो कुछ भी इस चलायमान सृष्टि में चलने–फिरने वाला प्राणिसमूह और संसरणशील पदार्थ समूहरूप संसार है, वह **(इदं सर्वम् ईशा वास्यम्)** यह सब ईश्वर के द्वारा बसा हुआ है, ईश्वर के द्वारा आच्छादित है। अर्थात् ईश्वर इस सबके भीतर–बाहर बसा हुआ है।

व्याख्या–जो कुछ भी इस जगती में जगत् है, इस सृष्टि में संसार है, वह सब का सब जगत् गतिमान है, चलायमान है, अस्थिर है, अटिकाऊ है, चलने–फिरने वाला है, हरकत करने वाला है, मरने वाला है, टूटने–फूटने वाला है। जो कुछ भी इस सृष्टि में संसार है, यह सब का सब संसरणशील है, गतिशील है, परिवर्तनशील है, सरकने वाला है, हरकत करने वाला है, बदलने वाला है। वह चाहे प्राणिसमूह हो वा पदार्थसमूह हो सब का सब गतिमान है, चलायमान है, अस्थिर है, न टिकने वाला है, न स्थिर रहने वाला है। जो आज बालक है, वही क्षण–क्षण में पल–पल में, प्रहर–प्रहर में, दिन–दिन में, रात–रात में, सप्ताह–सप्ताह में प्राणि, पक्ष–पक्ष में (शुक्ल–पक्ष–कृष्ण–पक्ष में), मास–मास में अयन–अयन में (उतरयण दक्षिणायन) में

---

१. जगत्–गच्छतीति जगत्। संसारः–संसरतीति संसारः।

वर्ष–वर्ष में सतत गतिमान रहता हुआ, निरन्तर बदलता हुआ एक दिन युवा बन जाता है। फिर वही युवा निरन्तर गतिशील होता–होता, परिवर्तनशील होता–होता, बदलता–बदलता एक दिन वृद्ध हो जाता है। फिर शनैः–शनैः वही वृद्ध समय के साथ–साथ अतिक्षीण होता–होता एक दिन समाप्त हो जाता है। ऐसे ही एक बीज पहिले खाद–पानी आदि पाकर अंकुरित होता है। अंकुरित होकर वही फिर शनैः–शनैः समय पाकर पेड़–पौधे का रूप धारण करता है। पुनः वही फिर अन्न–फल आदि देकर धीरे–धीरे क्षीण होकर समाप्त हो जाता है। यह स्थिति केवल किसी एक प्राणी वा किसी एक पेड़–पौधे की नहीं है, वरन् प्रत्येक प्राणी और प्रत्येक पदार्थ की भी है। इस प्रकार कोई भी संसार की वस्तु और कोई भी संसार का व्यक्ति ऐसा नहीं है जो सदा एक–सी अवस्था में रह सके, एक–सी स्थिति में रह सके। सब के सब प्राणी और सब के सब पदार्थ परिवर्तनशील हैं। अतः वे सब निरन्तर हरकत करते रहते हैं, सदा बदलते रहते हैं। इस प्रकार यह सारा जगत्, यह सारा संसार गतिमान है, गतिशील है, चलायमान है, चलनशील है, अस्थिर है, कभी स्थिर न रहने वाला है, अटिकाऊ है, कभी न टिकने वाला है।

वेद आगे कहता है कि यह जो जगत् है, यह जो संसार है, यह जो गतिशील संसरणशील प्राणिसमूह और पदार्थसमूह है जो कि इस जगती में, इस अपनी आधार रूप सृष्टि में, अपने इस आधाररूप ब्रह्माण्ड में, विश्व में विद्यमान है, वह तो गतिशील–संसरणशील–अस्थिर है ही, पर यह जो आधार रूप जगती है जो कि बाहर से देखने पर स्थिर–सी प्रतीत होती है, बाहर से देखने पर टिकाऊ–सी लगती है, वह भी सदा गतिमान रहती है, सदा चलायमान रहती है, सदा अस्थिर रहती हैं, सदा न टिकने वाली रहती है।

यों तो जैसे हमें अपने शरीर में खाया हुआ भोजन, रस, रक्त आदि तो गतिमान–चलायमान से लगते हैं पर अपना शरीर स्थिर–सा लगता है। पर सच तो यह है कि केवल शरीर में विद्यमान भोजन रस–रक्त आदि ही गतिमान नहीं है वरन् यह शरीर भी सदा गतिमान रहता है, चलायमान रहता है,

अस्थिर रहता है। जैसे इस रेल, इस समुद्री जहाज वा इस वायुयान, कार, बस आदि जिनमें कि हम परस्पर बातचीत करते हैं, खाते–पीते, पढ़ते–लिखते, कुछ वस्तुएँ देते–लेते हैं तो उस अवस्था में हमें ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे हम सब तो गतिमान हो रहे हों और हमारा आधार रूप जो वह रेल है, समुद्री जहाज है, वायुयान है, बस वा कार आदि यान है, वह बिल्कुल स्थिर है। परन्तु वास्तविकता यह होती है कि हमारी तरह वह रेल, समुद्रीयान, वायुयान, बस वा कार आदि यान भी सदा गतिमान हो रहा होता है। ऐसे ही हमें जो ये बौर, पत्ते, फूल, फल आदि वृक्षों पर दिखाई देते हैं, ये तो हमें गतिमान–अस्थिर प्रतीत होते हैं पर यह वृक्ष (तना) हमें स्थिर लगता है, टिकाऊ दिखाई देता है। पर वास्तविकता यह होती है कि इन पत्तों, फूल, फलों के समान इनके आधार रूप ये वृक्ष भी सदा गतिमान रहते हैं, चलायमान रहते हैं, अस्थिर रहते हैं। ऐसे ही घर, मकान, भवन, अट्टालिकाएं जिनमें कि हम सदा वास करते रहते हैं, इनमें तो हम सब अपने आपको गतिमान–गतिशील–चलायमान अनुभव करते हैं पर इन को हम स्थिर अनुभव कर रहे होते हैं। पर ध्यान से देखने और विचार करने पर हमें बहुत जल्दी ही यह ज्ञान होने लगता है कि ये सब भी हमारी तरह गतिमान हैं, चलायमान हैं, अस्थिर है, टूटने–फूटने वाले हैं एक दिन खण्डहर बन जाने वाले हैं, और अन्त में एक दिन भूमिगत होने वाले हैं। इतना ही नहीं ये जो सब गतिमान प्राणियों और पदार्थों की आधार रूप यह भूमि है, धरती है, पृथिवी है, वह भी गतिशील है, चलायमान है, अस्थिर है। इस पृथिवी से जो १३ लाख गुना बड़ा सूर्य[1] है, वह भी गतिशील है। और हमारे इस सूर्य से सहस्रों गुना बड़े–बड़े अन्य भी जो अनेकों सूर्य हैं, वे भी गतिशील हैं, जो करोड़ों मील दूर होने से हमें दीपक से दिखाई देते हैं। यह हमारा सूर्य तो पृथिवी

१. हमारा यह सूर्य पृथिवी से सबसे निकट सितारा है तथापि यह नौ करोड़ तीस लाख मील दूर है। पृथिवी इस के गिर्द ३६५ दिन में एक चक्कर लगाती है। इस एक चक्कर का समय एक वर्ष होता है। इस सूर्यमण्डल में सब से दूर का ग्रह प्लूटो (Pluto) हमारे २५० वर्षों में ऐसा एक चक्कर लगाता है।

से सब से अधिक समीप का सितारा है। यह सूर्य और इसके गिर्द घूमने वाले जो ग्रह–उपग्रह हैं, वे सब मिलकर हमारा एक सौरमण्डल है जो इस विशाल ब्रह्माण्ड का एक तुच्छ–सा भाग है। ऐसे सौरमण्डल इस विस्तृत आकाश में न जाने कितने हैं। पर ये भले ही न जाने कितने भी क्यों न हों, सब के सब गतिमान हैं, चलायमान हैं, अस्थिर हैं, सदा न टिकने वाले हैं। सब के सब जिस विस्तृत जगती में विद्यमान हैं, जिस विस्तृत ब्रह्माण्ड में विद्यमान हैं, इन की वह आधार रूप जगती भी गतिमान है, इनका वह आधार रूप ब्रह्माण्ड भी सारा का सारा गतिमान है, चलायमान है, अस्थिर है, अटिकाऊ है। वेद में अन्यत्र तभी तो बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि–हे मनुष्यो! ''अश्वत्थे वो निषदनम्'' ऐसे ब्रह्माण्ड रूप वृक्ष पर तुम्हारा ठिकाना बनाया गया है कि जिस के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि वह कल स्थिर रहेगा या नहीं। अतः तुम्हें सदा यह स्मरण रखना चाहिये कि तुम्हारा जो ठिकाना है, तुम्हारा जो आश्रय है, तुम्हारा जो आधार रूप यह विश्व है, तुम्हारा जो आधार यह ब्रह्माण्ड रूप वृक्ष है, वह भी तुम्हारी तरह गतिमान है, गतिशील है, चलायमान है, अस्थिर है, अटिकाऊ है, टूटने–फूटने वाला है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि यह जो गतिमान् जगत् है यह गतिमान जगती में विराजमान हुआ–हुआ निरन्तर गति कर रहा है, यह जो संसरणशील संसार है वह संसरणशील सृष्टि में विराजमान हुआ–हुआ निरन्तर सरक रहा है, निरन्तर गति कर रहा है, लगातार ही बदल रहा है। इसलिये जो और जैसा यह कल था, वह और वैसा यह आज नहीं है। जो और जैसा यह आज है, यह निश्चय है कि वह और वैसा यह कल नहीं रहेगा। यही इस की अस्थिरता है।

अब यह विचारणीय है कि यह जो जगती में जगत् है, यह जो गतिमान में गतिमान प्राणिसमूह वा पदार्थसमूह है, वह किस के सहारे टिका हुआ है ? तो इस का उत्तर यह है कि इस सब में एक ही ईश्वर बसा हुआ है, इस सब को एक ही ईश्वर ने आच्छादित कर रखा है। एक ही ईश्वर सब में व्यापक है। एक ही परमेश्वर इस सब के भीतर–बाहर विद्यमान है और

वह भी ऐसे जैसे कि किसी तालाब में डूबे हुए वस्त्र के तन्तु–तन्तु में जहाँ पानी समाया हुआ रहता है वहाँ उसके बाहर भी पानी विद्यमान रहकर उस को आच्छादित किये रहता है।

वेद में अन्यत्र उस ईश्वर के सम्बन्ध में कहा गया है कि– ''स ओतः प्रोतश्च विभुः प्रजासु।'' (यजुः० ३२.८) वह इन सब प्रजाओं में [तथा इन सब पदार्थों में] ताने–बाने के समान ओत–प्रोत है। गीता के शब्दों में **'सूत्रे मणिगणा इव'** (गीता ७–७) जैसे सूत्र–धागे में मणियाँ पिरोयी हुई होती हैं वैसे ही उस प्रभु में यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पिरोया हुआ है। अर्थात् मणियों में जैसे सर्वत्र धागा व्याप्त रहता है वैसे ही प्रभु सकल सृष्टि में व्याप्त हो रहा है।

वह ईश्वर ही, वह प्यारा और सब जग से न्यारा जगदीश्वर ही वस्तुतः इस सकल सृष्टि का, वस्तुतः इस विशाल विश्व का, वस्तुतः इस बृहद् ब्रह्माण्ड का और इस में विद्यमान समस्त प्राणियों और सब पदार्थों का आधार है। आधार ही नहीं वरन् कूटस्थ आधार है, स्थिर आधार है, टिकाऊ आधार है, चेतन आधार है। परन्तु चेतन आधार भी इस माता–पिता–गुरु–सखा–भ्राता–भगिनी आदि के समान क्षणभङ्गुर–अस्थिर–अटिकाऊ नहीं वरन् इन सब से विशिष्ट सजग–सशक्त स्थिर टिकाऊ और निश्चल आधार है। इसी आधार को उपनिषदों में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ आधार कहा गया है, परम और अन्तिम आधार बताया गया है।

ऐसा प्रभु जो सारे संसार के भीतर–बाहर बसा हुआ है और जो इस का सब प्रकार से आधार है, आश्रय है, वही इस का ईश्वर है, स्वामी है, अधिपति है, मालिक है, नियन्ता है, शासक है, अनुशासक है। यों तो इस जगत् में भी अनेकों ईश्वर हैं, स्वामी हैं, मालिक हैं, राजा हैं, महाराजा हैं परन्तु ये सब क्षणभङ्गुर हैं, अस्थिर हैं, अटिकाऊ हैं। अतः ये आज हैं तो कल नहीं, ये कल है तो परसों नहीं हैं, परसों हैं तो अतरसो नहीं हैं, इस मास हैं तो अगले मास नहीं हैं, इस वर्ष हैं तो अगले वर्ष नहीं है। और यदि ये सुदीर्घ काल तक जीवित भी रह जाएँ सुदीर्घ काल तक स्थिर और टिकाऊ भी रह जाएँ तो भी ये आज एक वस्तु–व्यक्ति और स्थान के स्वामी हैं, कल उस

वस्तु–व्यक्ति वा स्थान के नष्ट होने, मर जाने वा स्थान के बदल देने पर उस के स्वामी नहीं रहते। आज ये पद पर हैं तो मुख्यमन्त्री हैं, प्रधानमन्त्री हैं, राजा हैं, पर कल चुनाव में हार जाने पर फिर ये न मन्त्री हैं, न मुख्यमन्त्री हैं, न प्रधानमन्त्री हैं, न राजा हैं। इस का स्पष्ट प्रमाण यह है कि कल इन्दिरा जी थीं, मुरार जी न थे, फिर मुरारजी आए इन्दिरा जी नहीं रहीं, फिर इन्दिरा जी आ गयीं तो मुरार जी नहीं रहे....। इसी तरह कभी रावण थे, कभी राम थे, कभी धृतराष्ट्र थे, कभी दुर्योधन थे, युधिष्ठिर थे इत्यादि। पर आज न वह रावण है, न राम है, न धृतराष्ट्र है, न दुर्योधन है, न युधिष्ठिर है। इसी प्रकार न आज औरंगजेब है, न राणाप्रताप है और न ही शिवाजी है...। पर आज इन सब राजाओं का भी जो राजा था, इन सब शासकों का भी जो शासक था, इन सब नियन्ताओं का भी जो नियन्ता था, इन सब मालिकों का भी जो मालिक था, इन सब स्वामियों का भी जो स्वामी था, वह आज भी पूर्ववत् विद्यमान है और आगे भी विद्यमान रहेगा। यह सर्वदा सर्वत्र सब का स्वामी हुआ–हुआ सब पर समान रूप से शासन कर रहा है। वेद में ऐसा देखने को अनेकत्र मिलता है–**"यो विश्वस्य जगतो देव ईशे।"** (ऋ० ७.१०१.२) जो सम्पूर्ण संसार पर अद्वितीय देव शासन करता है, ऐसे ही **"त्वं ह्येक ईशिषे"** (ऋ० ४.३२.७) हे प्रभो! तू ही एकमात्र इस सकल जगत् का ईश है, स्वामी है, मालिक है। वेद आगे बढ़ कर और कहता है कि–**"ईशानो अप्रतिष्कुतः"** (ऋ० १.७.८) वह ईश्वर ऐसा है कि जिस का प्रतिकार कोई नहीं कर सकता। क्योंकि **"विश्वस्येशान ओजसः।"** (ऋ० ८.१७.१) वह सारे संसार का ईश–स्वामी अपने बल से बना हुआ है। श्वेताश्वतर उपनिषद् १.१० में भी कहा गया है कि–**"क्षरात्मानावीशते देव एकः।"** वह अकेला ही इस क्षर अर्थात् नाशवान् जगत् पर और इस में विद्यमान जीवात्माओं पर शासन करता है। अन्यत्र कहा गया है कि–**"य ईशे अस्य जगतः।"** (श्वेताश्वतर, उप० ६.१०) जो इस सब संसार पर शासन करता है।

ऐसा इस संसार के कण–कण में, अणु–अणु में अभिव्याप्त हुआ–हुआ सब जगत् का आधार रूप है, सब का स्वामी, सब

का शासक, सर्वान्तर्यामी जो परमेश्वर है, हमें चाहिये कि उसको हम सब सर्वदा सर्वत्र मानें और जानें, तथा सर्वदा सर्वत्र आस्तिक बुद्धि वाले होकर हम उस का अनुभव करें। फिर उसी के ही आदेश–उपदेश और सन्देश के आधार पर हम अपने आने वाले जीवन में आचरण करें।

इस प्रकार जब हम सच्चे आस्तिक बन कर उस प्रभु को परिछिन्न–एकदेशीय न मानकर विभु अर्थात् कण–कण में, अणु–अणु में व्यापक समझेंगे और सब का साक्षी समझेंगे तो फिर हमारे हृदय में कभी पाप करने की भावना नहीं उत्पन्न होगी। क्योंकि तब हम सदा यह समझेंगे कि सर्वदा सर्वत्र विराजमान भगवान् हमारी प्रत्येक वृत्ति और प्रवृत्ति को, हमारे प्रत्येक भीतरी विचार और बाह्य आचार को, हमारे प्रत्येक भीतरी और बाह्य व्यवहार को वह सब का साक्षी प्रभु भली–भाँति देख रहा है। हम सब यह भली–भाँति समझेंगे–सोचेंगे कि भले ही हम संसार के अन्य सब प्राणियों की आँखों से ओझल होकर कहीं एकान्त में पाप–अपराध भले ही कर लें पर उस प्रभु के प्रति आस्तिक बुद्धि के जग जाने पर तो फिर हमें कहीं पाप करने का एकान्त स्थान मिल ही नहीं पायेगा। सर्वदा सर्वत्र वही विभु–व्यापक सर्वान्तर्यामी प्रभु हमें भीतर ही भीतर पाप करने पर भय–शङ्का–लज्जा प्रदान करता रहेगा, जिस के परिणामस्वरूप हम फिर सर्वदा सर्वत्र निष्पाप बने रह सकने में समर्थ हो सकेंगे। अर्थात् तब हम मन्दिर, गुरुद्वारे, मस्जिद और गिर्जेघर के समान इन से बाहर भी पाप–अपराध आदि करने से बच सकेंगे, तब तो हम मंगलवार के दिन के समान अन्य बुद्ध, वृहस्पति और शुक्रवार आदि के दिनों में भी मांस, मदिरा आदि अभक्ष्य एवं अपेय पदार्थों से बच सकेंगे। इसी प्रकार हम सदा सर्वत्र कुचिन्तन, कुदृष्टि और कुकर्मों से भी सहज बच सकेंगे।

इस प्रकार उस प्यारे और सब जग से न्यारे प्रभु को सर्वदा सर्वत्र वर्त्तमान मानने से, प्राणी–प्राणी में वर्त्तमान मानने से हमारे हृदयों में दूसरे प्राणियों के प्रति जो घृणा भाव होगा वह भी फिर समाप्त हो जायेगा। हमारे हृदय में घृणा का भाव समाप्त होने पर उस घृणा के कारण जो दूसरों से पृथक् हटने

की वृत्ति होती है वह भी समाप्त हो जायेगी। अर्थात् फिर हम "हर पुरुष उसी का मन्दिर है" यह सोच कर सब के हृदयों में उस प्यारे प्रभु को विराजमान अनुभव कर जहाँ उन सब से घृणा कर परे हटने से बच सकेंगे वहाँ उन सब में अपने प्रियतम प्रभु को विद्यमान जान कर हमारे हृदयों में उन सब के प्रति विधेयात्मक दृष्टि से प्रेम भी उमड़ेगा, हमारे हृदयों में उन सब के प्रति प्रीति भी जगेगी। तब जगद् गुरु ऋषि दयानन्द के समान एवं राष्ट्रपिता बापू जी के समान हम दूसरों के समीप जा-जा कर प्रेमवश उन के दुःख-दारिद्रय को, उनके कष्ट-क्लेशों को, उनके ताप-सन्तापों को दूर करने में तृप्ति अनुभव करेंगे। तब हम दूसरों की दीन-हीन दशा पर, उनकी नासमझी और मूढ़ता पर, उनकी गन्दगी और गिलाजत पर घृणावश हँसी नहीं उड़ायेंगे वरन् आँसू बहायेंगे तथा उन महापुरुषों के समान, उस दयनीय अवस्था से उन्हें उभारने का हार्दिक प्रयास करेंगे। सचमुच यह सच्ची आस्तिकता तब हमारे हृदय की नास्तिकता और झूठी आस्तिकता से हमें सब प्रकार से उभार कर हम सब को परस्पर समीप ले आयेगी। और यह हमें परस्पर हृदय से इतना समीप ले आयेगी कि फिर हम परस्पर एक-दूसरे को देख कर प्रसन्न होंगे, तृप्त होंगे। गद्गद् होंगे।

इसी प्रकार जब भली-भाँति हमें यह बोध हो जायेगा कि वह ईश सारे संसार में बसा हुआ है और यह सारा-संसार उस में बसा हुआ है। अर्थात् वह सारे संसार के भीतर-बाहर विराजमान है, और इस सब संसार का स्वामी है, इस सब जगत् का अधिपति है, इस सब जगत् का मालिक है, तो तब यह बात सहज ही स्पष्ट हो जायेगी कि यह सब जगत्, यह सब संसार उस का 'स्व' है, सम्पत्ति, मलकीयत है। इस बोध के होने पर फिर हम सब संसार के 'स्व' के स्वामी कहलाने से सदा बचेंगे। इस मलकीयत के मालिक कहलाने से सदा बचेंगे। हम तो तब यही समझेंगे कि यह सब जगत् जगदीश्वर का है, यह सकल सृष्टि उस स्रष्टा की है, यह सब भूमि भगवान् की है, यह सब ऐश्वर्य उस ईश्वर का है। यहाँ तक कि हम भी उसी के 'स्व' हैं वह भी हमारा स्वामी है, मालिक है, अधिपति है, शासक है, अनुशासक है। इसलिये हम उसी को अपना स्वामी-

मालिक-शासक स्वीकार करते हुए, उसी के द्वारा प्रदान किये हुए धन-धान्य में, सुख-सौभाग्यों में भी उसी के वेदादेश और सत्प्रेरणा के अनुसार अपना केवल भोगाधिकार ही समझ कर उसका उपभोग करेंगे। ऐसे जैसे कि कोई अध्यापक किसी विद्यालय में किसी कक्षा को पढ़ाते हुए वहीं की आसन्दी-कुर्सी, मेज, ब्लेकबोर्ड वा चाक, स्टिक आदि में कुछ काल तक अपना प्रयोगाधिकार समझता है इसीलिये उस के स्थानान्तरित (ट्रांसफर) हो जाने पर वा उस के सेवानिवृत (रिटायर) हो जाने पर उसे कष्ट नहीं होता और वह निर्लेप भाव से वहाँ से चला जाता है। ऐसे ही प्रभु-प्रदत्त सब धन-वैभव में भी हम तब अपना प्रयोगाधिकार समझ कर उस का वैसे ही उपभोग करते रहेंगे और तब किसी वस्तु व्यक्ति स्थान में हम फँसेंगे नहीं, लिप्त नहीं होंगे। वरन् इस सब वैभव का सेवन भी हम उस सर्वज्ञ-सर्वव्यापक प्रभु के प्रति कृतज्ञ होकर करेंगे और फिर जहाँ हम इस का उपभोग कर सांसारिक दृष्टि से सुख पा सकेंगे, वहाँ हम इस सब में विराजमान भगवान् का श्रद्धा-भक्ति पूर्वक धन्यवाद करते हुए उसका अनुपम प्यार और आशीर्वाद भी पा सकेंगे।

द्वितीय रश्मि

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः। –यजुः० ४०.१

संक्षिप्त अन्वयार्थ–तू **(तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः)** त्यागपूर्वक भोग, तू त्यागभाव से भोग कर।

अन्वयार्थ–हे मानव! **(तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः)** उस ईश्वर ने जो तेरे कर्मानुसार तुझे प्रदान किया है उस का भी तू त्यागभाव से उपभोग कर।

व्याख्या–इस ब्रह्माण्ड में जो भी कुछ है, वह सब ईश्वर से अभिव्याप्त है। अर्थात् इस सब में वह प्रभु बसा हुआ है। फिर केवल आकाश के समान ही वह इस सब में बसा हुआ ही नहीं है वरन् वह तो चेतनों में चेतन महान् प्रभु इन संसार के सब प्राणियों और सब पदार्थों में ओत–प्रोत हुआ–हुआ सब का स्वामी, सब का साक्षी बनकर सब प्राणियों के कर्मों को देखकर उनको अपने–अपने कर्मों के अनुसार फल भी देता है। **(तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः)** ऐसे उस सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी सब जगत् के ईश–जगदीश भगवान् के द्वारा हे मानव! जो भी तुझे अपने कर्मानुसार उपलब्ध हो उस का तू सन्तोषपूर्वक ही नहीं वरन् त्यागपूर्वक उपभोग कर।

अब जिस व्यक्ति को अणु–अणु में व्यापक सब जगत् के स्वामी, सब प्राणियों के कर्मफलों की व्यवस्था करने वाले प्रभु ने अपने कर्मों के अनुसार जो भी कुछ पुत्र–कलत्र वा वस्तु–पदार्थ वा पद–प्रतिष्ठा के रूप में प्रदान किया है, उस में यदि उसे सन्तोष नहीं है, सब्र नहीं है और वह प्रायः यह सोचता रहता है कि–''अमुक की सन्तान बड़ी सुन्दर है, अमुक की नारी बड़ी अच्छी है, अमुक का मकान बड़ा बढ़िया है, अमुक के यहाँ तो फ्रिज है, अमुक के यहाँ तो टेलिवीजन है, अमुक के पास तो धन है, अमुक का बड़ा मान–सम्मान है और इधर हमारी सन्तान सांवली है, हमारी नारी भी कटुभाषिणी है, मकान तो हमारे पास ऐसा है कि हमें देख–देख कर स्वयं ही उससे घृणा होती है। अब जब मकान की ही हमारी ऐसी स्थिति

है तो फिर और सुख–सुविधाओं की तो चर्चा भी क्या करनी.....।'' इस प्रकार जब जिसको अपने कर्मों के आधार पर जो कुछ भी, और जैसा कुछ भी प्राप्त हो रहा है उस पर ही यदि उसे सन्तोष नहीं, सब्र नहीं और हर समय वह दूसरों की वस्तुओं, दूसरों के व्यक्तियों (पुत्र, कलत्रों) तथा दूसरों के स्थानों, मकानों, भवनों, जमीन, जायदादों आदि–आदि को देख–देख कर जो सदा तरसता रहता है और अपने भाग्य को सदा कोसता रहता है, उस का फिर भला मन अपनी साधना में, अपनी सन्ध्योपासना में कैसे लगा रह सकता है! वह तो दिल ही दिल में तब सन्ध्योपासना के मूल्यवान समय में भी सदा यही सोचता रहेगा कि–''हाय! अगर वह मकान मेरे पास होता तो कितना अच्छा होता, अगर वह सुन्दर और सुयोग्य पुत्र मेरा होता तो कितना अच्छा होता, उस के पुत्र के समान मेरे पुत्र की भी सर्विस लग जाती तो कितना अच्छा होता! पर मेरी इतनी अच्छी किस्मत कहाँ? मेरे ऐसे भाग्य कहाँ? मेरे भाग्य में तो चारों ओर से रोना ही रोना, कष्ट ही कष्ट है, अभाव ही अभाव है, इत्यादि।'' वास्तव में यह व्यक्ति जितना समय यह सोचने–विचारने में व्यतीत करता है, यदि वह इसके स्थान पर अपने वर्त्तमान में उपलब्ध हुए धन–धान्यों पर वा सुख–सुविधाओं पर वा पद–प्रतिष्ठाओं पर सन्तोष करके भविष्य के लिए जी–जान से पुरुषार्थ करे तो इस से जहाँ उस का मन सदा शान्त और प्रसन्न रहेगा वहाँ उस की सब प्रकार से उन्नति भी होगी। उस की नारी भी तब धीरे–धीरे अच्छी हो जायेगी, उस के पुत्र को भी तब जल्दी ही कुछ काम मिल जायेगा, उस का तो तब वह छोटा–सा मकान भी उस की सूझ–बूझ से कुछ अधिक उपयोगी और सुविधाजनक बन जायेगा, उस की अकलमन्दी से तब उतने ही व्यय में अधिक से अधिक स्वास्थ्यप्रद खाद्य एवं पेय पदार्थ भी घर में आ सकेंगे इत्यादि। कई बार ऐसा भी होता है कि जिस के पुत्र की सर्विस लग गई, हम उस को देख–देख कर उसके भाग्य को ही सराहते रहते हैं और अपनी किस्मत को कोसते रहते हैं, यह सोचकर कि ''हम बदकिस्मत हैं, तभी तो अधिक सुयोग्य होने पर भी हमारा पुत्र काम पर नहीं लग सका, और उसके पुत्र की

सामान्य–सी योग्यता होने पर भी वह काम पर लग गया....।'' परन्तु कई बार हमें क्या पता होता है कि हमारा वह पुत्र जब स्वेच्छानुसार अपनी भीतरी रुचि के आधार पर कुछ और विशेष योग्यता प्राप्त कर लेता है तो वह उस व्यक्ति के पुत्र की अपेक्षा कई गुना यशस्वी बन कर ऊँचे से ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित हो जाता है। वह भी प्रार्थना पूर्वक नहीं वरन् उस पद विशेष के लिए वह सादर साग्रह आमन्त्रित किया जाता है। उस समय उस व्यक्ति को आश्चर्य होता है कि यह सब कैसे हो गया? तब वह इस पर अपने बेटे को भी शाबाशी देता है और मन ही मन अपने ईर्ष्या भरे पूर्व के चिन्तन पर पश्चात्ताप करता हुआ बड़े कृतज्ञ हृदय से प्रभु का धन्यवाद करता है। वह सोचता है कि ''यदि मेरा भी पुत्र उस समय अमुक के पुत्र के समान मेरी इच्छा से सामान्य–सी उस सर्विस पर लग जाता तो भले उस समय मुझे थोड़ी–बहुत प्रसन्नता मिल जाती, पर मेरा यह पुत्र फिर अब तक वहीं का वहीं ही पड़ा–पड़ा इस मंहगाई में जैसे–तैसे अपने दिन गुजारता रहता।'' सो ऐसी बात को जीवन में देख–देख कर मनुष्य को चाहिए कि वह किसी के धन–धान्य को, सुख–सौभाग्य को पद–प्रतिष्ठा आदि को देख–देख कर कभी ईर्ष्यावश अपने भाग्य को कोसे नहीं, वरन् अपने कर्मों को अच्छी प्रकार से देखे, अपने पुरुषार्थों को भली–भाँति देखे और फिर उसके आधार पर जो भी जैसा भी कुछ प्रभु प्रदान करे, उसी में ही वह सन्तोष का अनुभव करे। हाँ, उसको जो कुछ प्राप्त है, उपलब्ध है, यदि उस पर उसको सन्तोष नहीं है, सब्र नहीं है, और उसको उससे और भी अधिक की कामना है, इच्छा है, तो फिर उसे चाहिए कि वह और भी अधिक पुरुषार्थ करे ताकि उसे अधिक प्राप्त हो। उसे यह नहीं चाहिये कि वह दूसरों से ईर्ष्या करे, डाह करे। क्योंकि जो ईर्ष्या करता है उस व्यक्ति का एक तो मन प्रायः बड़ा खराब रहता है, दूसरा फिर परमेश्वर की आराधना में भी उस का जी नहीं लगता। क्योंकि उस समय मनुष्य के मन में सदा यह प्रवाह ही चलता रहता है कि–''हाय उसने तो बड़ी सुन्दर कोठी भी बना ली है, उसका तो पुत्र भी बड़े अच्छे अंक लेकर उत्तीर्ण हो गया है। उनकी तो बेटी का भी बहुत अच्छे घर में बड़े सुयोग्य लड़के के साथ

विवाह हो गया है। उसके बड़े पुत्र का भी बहुत बड़े घर में सम्बन्ध हो गया है आदि–आदि....।'' यह ईर्ष्या की निकृष्ट वृत्ति कुछ इस तरह की होती है कि इसके हृदय में विद्यमान रहने पर मनुष्य को अपना अधिक से अधिक धन–धान्य वा अपनी अधिक से अधिक जमीन–जायदाद वा अपना अधिक खाद्य एवं पेय पद तभी सदा अति न्यून ही दिखाई देता है और दूसरे का न्यून से न्यून पदार्थ भी बहुत अधिक प्रतीत होता है। इस कारण मनुष्य व्यर्थ ही प्रायः दुःखी होता रहता है। इस प्रसंग में अपने बाल्यकाल की एक घटना स्मरण हो आई। वह यह कि मैं और मेरा छोटा भाई एक दिन जब स्कूल से पढ़कर घर आए तो पूज्य माता जी ने हमें भोजन परोसा। माँ जी ने मुझे और छोटे भाई को मक्खन भी दिया। यद्यपि उस बिचारी ने भेद–भाव रहित होकर हम दोनों को एक समान ही मक्खन प्रदान किया, पर फिर भी ईर्ष्या के कारण मुझे अपना वह मक्खन कम और छोटे भाई का बहुत अधिक प्रतीत होने लगा। इस पर मैं ने माँ से कहा–''माँ मेरा मक्खन कम है, मुझे और दो।'' इस पर माँ जी बोली–''बेटा! मैं ने तुम दोनों को बराबर मक्खन दिया है। और फिर आज और मक्खन नहीं है वरना मैं तुझे और भी दे देती। इसीलिये बेटा! आज तू यही खा ले। कल तुझे मैं और बना दूँगी फिर तू खूब खा लेना!'' पर मैं माँ का कहना नहीं माना और रूठ कर एक ओर बैठ गया। माँ बिचारी भी अपने अन्य किसी काम में तब लग गई। छोटे भाई ने जब अपनी थाली वाला मक्खन खा लिया तो फिर उस ने मेरी थाली वाले मक्खन को देखकर यह सोचा कि–चलो यह तो नाराज है, रूठा हुआ है, मक्खन खाता नहीं। अतः इसे भी मैं ही खा लेता हूँ। यह सोचकर वह मेरी थाली वाला मक्खन भी खा गया और फिर चल दिया खेलने। आखिर मुझे भी भूख तो लगी ही थी। थोड़ी देर बाद मैं अपनी माँ जी के पास गया और कहा कि–''अच्छा माँ! कल तो मक्खन ज्यादा दोगी न? यह सुन कर माँ बोली, बेटा जरूर दूँगी।'' इस पर मैं बोला, ''अच्छा माँ जी फिर वही दे दो।'' माँ जी जब मेरी थाली मेरे लिये लाने के लिये वहाँ गई तो वह थाली को देखकर बहुत हँसी और बोली कि ''बेटा! तेरा वह मक्खन तो तेरा भाई ही खा गया है। अतः

अब तू रोटी शाक से खा ले, कल मैं तुझे खूब मक्खन दे दूँगी।'' भूख लगी थी, अतः भोजन तो मैंने खा लिया, पर उस दिन मैंने सोचा कि–''अपनी ईर्ष्या से मूर्खातावश और तो कुछ पाना दूर रहा उल्टा मैंने अपने वर्त्तमान में उपलब्ध पदार्थ तक को भी खो दिया।'' सो उस दिन मुझे ऐसा पाठ मिल गया कि आगे से मैंने इस प्रकार ईर्ष्यावश नाराज होकर रूठना घाटे का सौदा समझ कर छोड़ दिया। इस प्रकार की घटनाओं के होने पर भी यदि मनुष्य नहीं मानता और निरन्तर ईर्ष्या करता हुआ यह कहता है कि–''देखो अमुक दुकानदार के पास तो ग्राहकों की इतनी भीड़ लगी हुई है और मेरे पास प्रथम तो कोई आता ही नहीं, और अगर कोई भूला–भटका एकाध ग्राहक आता भी है तो वह देख–भाल यों ही हैरान–परेशान करके वापिस चला जाता है, या फिर थोड़ा–सा कुछ ले लेता है। कितना दुर्भाग्यवश है मेरा....।'' सच तो यह है कि यह सब कुछ ईर्ष्यावश वह देख और सोच रहा होता है तो वह अपने समीप आए हुए वर्त्तमान एक दो ग्राहकों को भी अच्छी तरह एकाग्रभाव से नहीं अटेण्ड कर पाता। क्योंकि उसकी दृष्टि तो सामने वाले दुकानदार और उसके ग्राहकों पर गढ़ी हुई होती है। अतः उसका हृदय ईर्ष्यावश उसके भाग्य को भूखी आँखों से निहारता हुआ अपने भाग्य को कोस रहा होता है। इस प्रकार उसकी इस अवस्था को देखकर जब ग्राहक उसको अपने प्रति सजग और सावधान नहीं देख पाता तो वह बिचारा भी फिर जल्दी ही किसी दूसरे की दुकान पर चला जाता है। इससे फिर उसकी और हानि होती है। ऐसा ईर्ष्यालु व्यक्ति कभी अपने वर्त्तमान से भली–भाँति लाभ नहीं उठा पाता और फिर अपने इन कर्मों, अपने इन व्यवहारों को कोसने के बजाए अपने भाग्य को कोसता रहता है। पर यह सब कुछ करने से उसके हाथ कुछ लगता नहीं है, वरन् उसके जीवन का अमूल्य समय ही उल्टा नष्ट होता रहता है। ऐसा व्यक्ति अपने कर्मों के आधार पर प्रभु प्रदत्त धन–धान्य पर वा सुख–सौभाग्य पर वा मान–सम्मान पर वा सेवा–सत्कार पर कभी सन्तुष्ट नहीं रह पाता और सन्तुष्ट न रहने के कारण वह कभी अपने वर्त्तमान का वास्तविक आनन्द नहीं उठा पाता, तो फिर भला साधना में, प्रभु भजन में उसका मन तो कैसे एकाग्र

और शान्त रह सकता है? यदि सचमुच मनुष्य चाहता है कि उसका जीवन सुखी हो, तो उसे चाहिये कि वह बुद्धिपूर्वक जी जान से अपने कार्य को मेहनत से करे। फिर उसके परिणामस्वरूप जो कुछ भी प्रभु उसको प्रदान करे, उसमें ही वह सन्तोष करे, सब्र करे। ऐसा करने पर उसका जहाँ जीवन सुख और शान्तिपूर्वक व्यतीत होगा वहाँ उसका सन्ध्योपासना में भी मन ठीक लगता रहेगा, अर्थात् उस की साधना भी तब ठीक चलती रहेगी।

पर वेद के इस वाक्य का केवल इतना ही तो अभिप्राय नहीं है वह तो इस से और आगे बढ़ कर यह भी कहता है कि–''अपने कर्मों के आधार पर भी मनुष्य को जो कुछ उस प्यारे प्रभु की न्याय–व्यवस्था से स्त्री–पुत्र वा धन–वैभव या पद–प्रतिष्ठा आदि मिले, उसे चाहिये कि वह उसका सन्तोषपूर्वक ही नहीं वरन् त्यागपूर्वक भी उपभोग करे। इसे सन्तोषपूर्वक ही नहीं वरन् त्यागपूर्वक सर्वविध पदार्थों का उपभोग करने से जहाँ उस की सन्ध्योपासना निर्विध रूप से ठीक चलती रहेगी वहाँ उस में उस का विकास भी होगा, उत्थान भी होगा, आत्मा भी सदा फिर उस की प्रसन्न ही रहेगी। ईर्ष्या और द्वेषभाव भी उस के हृदय से काफूर हो जायेंगे। सचमुच ऐसे वे दिन मनुष्य के लिये बड़े ही सौभाग्य के होंगे। क्योंकि वह तब भीतर–बाहर से प्रसन्न होगा।'' जैसे एक व्यक्ति को अपनी आय के अनुसार एक छोटा–सा क्वाटर मकान मिला हुआ है और वह उसी में ही बड़ा सन्तुष्ट है, तो भी उसे कोई आकर कहता है कि–''तुम्हारा मकान तो कुछ भी नहीं है जरा जाकर देखो अपने उस मित्र की कोठी कि वह कितनी बड़ी है, कितनी सुन्दर है....।'' इस पर वह व्यक्ति उत्तर देता है–''ठीक है, मैं मानता हूँ कि मेरे उस मित्र की कोठी बहुत अच्छी है, बहुत बड़ी है, उस में सब प्रकार की सुख–सुविधाएँ हैं। पर बात यह है कि वह उस को अपने कर्मों के आधार पर मिली हुई है और यह छोटा–सा मकान मुझे अपने कर्मों के आधार पर मिला हुआ है। अतः उस को उस में ही सन्तुष्ट रहना चाहिये और मुझे इस पर ही सब्र करना चाहिये। प्रभु के इस विधान को जानते और मानते हुए मुझे कभी भी उसके साथ ईर्ष्या नहीं करनी चाहिये।

हाँ यदि सचमुच मुझे इस मकान में तंगी अनुभव हो, कठिनाई अनुभव हो तो फिर मुझे और अधिक पुरुषार्थ कर के धनार्जन करना चाहिये और फिर मुझे अपनी स्थिति के अनुसार बड़े मकान को लेने का प्रयास करना चाहिये। पर फिलहाल तो मैं अपने इस छोटे से मकान में ही बड़ा सन्तुष्ट हूँ। क्योंकि एक तो यह मेरे अपने कर्मों के आधार पर मुझे मिला हुआ है, दूसरा इस में मेरा गुजारा भी बड़ी अच्छी तरह से चल रहा है। ऐसी अवस्था में फिर मैं अपने मित्र की बहुत बड़ी और बहुत सुन्दर कोठी को देख-देख कर ईर्ष्या क्यों करूँ? ईर्ष्या करने के परिणामस्वरूप तो फिर मैं अपने पुरुषार्थ से अर्जित इस मकान का भी सुख-शान्ति से उपभोग नहीं कर पाऊँगा। ईर्ष्या से फिर मेरी नींद भी खराब हो जायेगी, मेरे तब उत्तम से उत्तम, बढ़िया से बढ़िया खाए हुए भोजन का प्रभाव भी मेरे शरीर पर बढ़िया नहीं होगा। इसलिए मैं अपने इसी मकान में बहुत प्रसन्न हूँ। क्योंकि मेरे तीनों बच्चों के पढ़ने-लिखने की पर्याप्त सुविधा इस में है। विवाहित पुत्र के लिये भी इसमें पृथक् व्यवस्था है। मेरे लिये भी इसमें एक अलग कमरा है। एक बैठक भी घर में है। आए-गए के लिये भी प्रभु कृपा से पर्याप्त सुख-सुविधाएँ हैं। अतः मैं इस के लिये भी प्रभु का सदा हृदय से धन्यवाद करता हूँ। इतना ही नहीं कि मैं इस सब पर सन्तोष करता हूँ वा इस सब के लिये प्रभु का धन्यवाद करता हूँ वरन् मैं तो सदा यह प्रयास भी करता हूँ कि इस अपने कर्मानुसार उपलब्ध स्त्री-पुत्र का भी मैं, इस धन-वैभव का भी मैं, इस जमीन-जायदाद का भी मैं त्यागपूर्वक उपभोग करूँ, त्याग भाव से सदुपयोग करूँ। ऐसा करने पर ही तो जब मेरे घर पर कोई योगी, संन्यासी, विद्वान्, तपस्वी, अतिथि आदि आयेंगे तो उन सब को मैं बड़ी श्रद्धा से अपने इसी मकान में रहने-सहने की, खाने-पीने की सुख-सुविधायें दे सकूँगा, उनकी हृदय से आव-भगत कर सकूँगा, इस में उपस्थित अन्न आदि खाद्य पदार्थों से चींटी, कुत्ते, बिल्ली और गौओं आदि के लिये भी ग्रास निकाल सकूँगा। इस अपनी पत्नी से फिर मैं केवल अपनी ही सेवा-शुश्रूषा नहीं कराऊँगा, वरन् समय आने पर मैं इसके साथ मिल कर अभ्यागतों की, भोजन-आच्छादन आदि द्वारा सेवा

भी कर सकूंगा. बाढ़ पीड़ितों वा दीन-अनाथों के लिए भी तब जहां मैं अपनी जेब से दान दे सकूँगा वहाँ यह आर्यसमाज, मन्दिर वा गुरुद्वारे आदि में जाकर अपने हाथों से उन पीड़ितों के लिये भोजन आदि पकाने में भी हाथ बँटा सकेगी। मेरा यह नौजवान पुत्र भी तब अन्यों के साथ मिलकर उन बाढ़ पीड़ितों में उस अन्नादि खाद्य पदार्थों को बाँट सकेगा। मुझे जहाँ तक उस अपने मित्र के स्वभाव का ज्ञान है उस के आधार पर तो मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः वह अपनी इस बड़ी सुन्दर कोठी में भी अभी सन्तुष्ट नहीं होगा। सब जब वह अपने इस वर्त्तमान धन-वैभव वा सुख-सौभाग्य पर भी जब सन्तुष्ट नहीं होगा तो फिर भला वह इसके लिये ईश्वर के प्रति आस्थावान् बना हुआ कैसे उसका धन्यवाद कर सकता है, और वह फिर भला ईर्ष्या से, डाह से और द्वेष से भी कैसे बचा रह सकता है? प्रभु भजन में भी उसका फिर दिल भला कैसे लगा रह सकता है? अब उसको अपनी यह इतनी बड़ी और इतनी सुन्दर कोठी ही जब बड़ी सामान्य-सी लगती है, इसमें विद्यमान यह धन-वैभव और ये सुख-सुविधायें ही जब अपने और अपने परिवार के लिए बहुत न्यून, बहुत थोड़ी प्रतीत होती हैं तो फिर भला इन सब का वह सन्तोष एवं त्यागपूर्वक कैसे उपभोग कर सकता है? अब जब यह स्वयं ही इस सब का सन्तोष और त्याग भाव से उपभोग नहीं कर सकता तो फिर भला कैसे तो उस का बाह्य जीवन सुख-शान्ति से व्यतीत हो सकता है और कैसे उसके भीतरी जीवन का साधना से उत्थान हो सकता है? अतः मनुष्य को चाहिये कि वह बुद्धिपूर्वक अपनी पूर्ण शक्ति से पहले पुरुषार्थ करे फिर जो भी कुछ अपनी न्याय-व्यवस्था से प्रभु उसे प्रदान करे उसी पर ही वह सन्तोष करे। और सन्तोष ही नहीं वरन् उसका भी वह त्यागभाव से उपभोग करे ताकि उसके बाह्य और भीतरी जीवन का समान रूप से उत्थान हो और उसके लोक-परलोक दोनों सुधर सके।''

श्री पं० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार का कहना है कि इस ''तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'' रूप इस महावाक्य पर जब मनुष्य विचार करता है तो दो विचार, दो वाद मनुष्य के सम्मुख आते हैं और वे उसे अपने-अपने ढंग से प्रेरणा देते हैं। वे दो विचार,

वे दो वाद हैं–भौतिकवाद और अध्यात्मवाद। भौतिकवाद इस मनुष्य को यह कहता है कि 'तू इस को भोग' और आध्यात्मवाद यह कहता है कि 'तू इसको त्याग'। परन्तु वैदिक वाद इन दोनों में समन्वय करता हुआ उसे कहता है कि 'तू इस को त्यागपूर्वक भोग, तू इस को त्यागभाव से भोग।'

इस प्रकार वह मानव एक स्थिर धरातल पर खड़ा होकर, एक स्थिर विचार के आधार पर जब इस धन–सम्पदा का त्यागपूर्वक उपभोग करेगा तो तब यह उसके लिये बन्धन का कारण न बनकर जहाँ इस लोक के सुख का कारण बनेगी वहाँ वह इस के मोक्ष मार्ग में भी सहायक होगी।

इसके अतिरिक्त वैसे भी हमें अपने आप को इस सब धन–वैभव का स्थायी स्वामी नहीं समझना चाहिये। क्योंकि हम सब तो कुछ काल के लिये ही इस सब धन–वैभव के स्वामी हैं। सच्चा और स्थायी स्वामी–मालिक तो इस सबका वह परमेश्वर ही है। कभी यह सर्वविध धन–वैभव हमारे दादा जी के पास था। दादा जी से फिर यह पिता जी के पास आया। पिता जी के पास यह टिका नहीं रहा। अतः यह उनसे हमें प्राप्त हुआ। फिर यह यदा–कदा–न्यून–अधिक भी होता रहा। इस प्रकार जब यह धन–सम्पत्ति निरन्तर उन सब के हाथों से सरकती आ रही है तो फिर भला यह हमारे पास भी सदा कैसे बनी रह सकती है! अब जब इस धन–सम्पत्ति की यह स्थिति है, और इस की ही क्या इस पुत्र–कलत्र की भी यह स्थिति है तो फिर हमें चाहिये कि हम इस सब वैभव का ठीक जैसे ही निर्लेप भाव से उपभोग करें जैसे कि किसी कार्यालय में एक कर्मचारी या किसी शिक्षणालय में एक शिक्षक उस कुर्सी, मेज आदि का उपभोग करता है। हम देखते हैं कि कार्यालय का समय वा अपने अन्तर (पीरियेड) का समय समाप्त होने पर वह उस को निर्लेप भाव से छोड़ जाता है और वैसे ही जब कभी वह रिटायर अर्थात् सेवानिवृत्त होता है तो वह बिल्कुल निर्लेप भाव से उन सब साधनों को ऐसे ही छोड़ कर चला जाता है जैसे कि उन सब साधनों से उस का कोई सम्बन्ध ही नहीं हो।

जिस दिन हम संसार के इस सब धन–वैभव को सचमुच उस ईश्वर का ही समझकर उपभोग करेंगे, अर्थात् अपने आप

को हम इस का स्वामी–मालिक नहीं बनने देंगे, तो तभी हम त्याग पूर्वक इस सब का उपभोग कर सकेंगे, निर्लेप भाव से इस सब का प्रयोग कर सकेंगे, ट्रस्टी बन कर इस सब का प्रयोग कर सकेंगे।

इस के अतिरिक्त यदि त्याग को सर्वथा छोड़ कर केवल भोग ही भोग किया जाय तो फिर बहुत ही शीघ्र यह भोग भी हम सब के लिये असम्भव हो जायेगा। जैसे एक व्यक्ति भोगता ही भोगता जाए, त्याग का वह नाम भी न ले, तो भोगते–भोगते स्वयं एक समय ऐसा आ जायेगा कि वह स्वयं ही निढाल होकर पड़ जायेगा और वे सब भोग स्वयं ही यों के यों धरे रह जायेंगे। अतः वेद ने उपदेश दिया है कि–"हे मानव! तू योग से भोग, तू त्यागपूर्वक भोग।"

पं० दामोदर सातवलेकर जी के अनुसार "**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः**" का तात्पर्य यह है कि–"हे मानव! तू उस [प्रभु प्रदत्त वैभव] का दान से उपभोग कर, दानपूर्वक उपभोग कर, दान करके सेवन कर, अर्थात् दान देकर जो शेष रह जाए, उस का ही तू उपभोग कर। क्योंकि यही भोग ही वास्तव में त्यागपूर्वक उपभोग कहलाता है, यही भोग ही गीता के अनुसार यज्ञशिष्टाशन कहलाता है, यज्ञशेष खाना कहाता है। माननीय श्री पं० सातवलेकर जी के इस अर्थ के अनुसार भी जब मनुष्य ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ [अग्निहोत्र] कर के पुनः बलिवैश्वदेवयज्ञ, अतिथियज्ञ और पितृयज्ञ करके अर्थात् चींटी, कुक्कुर, गौ, दीन, दुःखी, अनाथ आदि को पहले प्रदान करके, विद्वान् संन्यासी, तपस्वी, अतिथि आदि का पहले खिला के और वृद्ध माता–पिता आदि को पहले खिला के तदनन्तर जब खावे, तो यह यज्ञशिष्टाशन–यज्ञशेष का खाना कहा जाता है। इस प्रकार भी जब मनुष्य संसार में अपने कर्मों के आधार पर उपलब्ध धन–वैभव का सेवन करता है तो इस से जहाँ उस का शरीर आदि सबल–सशक्त होता है वहाँ त्याग से, दान–पुण्य आदि से उस का आत्मा भी प्रसन्न और तृप्त होता है, जिस के परिणामस्वरूप उस का जहाँ भौतिक उत्थान होता है, वहाँ उस का आध्यात्मिक विकास भी पर्याप्त होता है। अतः मनुष्य को चाहिये कि वह दान कर के भोगे वह देकर खाए, खिला कर

खाए, पहना के पहने, औढ़ा कर औढ़े इत्यादि। वेद की यह परम्परा आज भी किसी न किसी रूप में भारतीय ग्रामीण और नागरिक जीवन में विद्यमान है। तभी तो हमारे कृषक भाई जब अन्न अपने घर ले जाते हैं तो प्रथम उस में से दीन–दुःखियों को देते हैं, गुरुकुलों और आश्रमों में देते हैं, ज्ञानी–विद्वान् संन्यासियों को देते हैं, तब स्वयं उसका सेवन करते हैं। ऐसे ही कई भाई जब सर्दियाँ आती हैं तो स्वयं गर्म वस्त्र तब पहनना, ओढ़ना आरम्भ करते हैं जब कि पहले दीन–अनाथों को वे पहना–ओढ़ा लेते हैं, इत्यादि.....।''

''**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः**'' वेद के इस वाक्य में यदि 'सह' का अध्याहार कर लिया जाय तो मनुष्य इस वेद वाक्य के गम्भीर रहस्य को हृदयङ्गम करने में और भी बढ़कर समर्थ हो जायेगा।

'सह' का अध्याहार करने पर फिर यह वेद वाक्य बनेगा ''**तेन त्यक्तेन [सह] भुञ्जीथाः।**'' और तब इस का अर्थ होगा– ''हे मानव! उस त्यागे हुए, भुलाए हुए ईश को साथ लेकर तू इस का उपभोग कर।'' अर्थात् हे मानव! ऐश्वर्यों के भोग में पड़ कर जिस ईश्वर को तू ने त्याग दिया है–जिस ईश्वर को तू ने भुला दिया है, भोगों में पड़ कर उस भूले हुए, उस त्यागे हुए परमेश्वर को साथ लेकर तू इस सब वैभव का उपभोग कर। अर्थात् तू उसका स्मरणपूर्वक इस का उपभोग कर।

निरुक्त परिशिष्ट अध्याय १४ में लिखा है कि–''माता–पिता के संयोग से जब गर्भ स्थिर हो जाता है तो प्रथम यह सौम्य (अर्थात् रसीय) अवस्था में होता है। फिर एक रात्रि के अनन्तर कलल (वीर्य, रज सम्मिश्रण) अवस्था में होता है, पाँच रात्रियों के उपरान्त पेशी (माँस बोटी) के रूप में आ जाता है, चौदह रात्रियों के पश्चात् यह (अर्बुद) लोथड़ा–सा बन जाता है, पच्चीस रात्रियों में यह अपनी द्रव–सी अवस्था में रहता हुआ घन हो जाता है। एक मास में यह कठिन हो जाता है, दो मास में सिर बन जाता है, तीन मासों में गर्दन की बनावट जान पड़ती है, चार मासों में त्वचा की बनावट, और पाँचवें मास में नख तथा रोयों–बालों की बनावट दीख पड़ती है। छठे मास में मुख नासिका चक्षु और श्रौत्र ये सब बन जाते हैं, आठवे महीने में बुद्धि से कार्य लेता है, और नवम मास में यह सर्वाङ्ग सम्पूर्ण

हो जाता है। उस समय इस जीव की क्या अवस्था होती है, और यह अत्यन्त दुःख में पड़ा हुआ क्या–क्या सोचता है, इसे निम्नलिखित श्लोकों में बताया गया है–

मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः।
नाना योनिसहस्राणि मया यान्युषितानि वै॥
आहारा विविधाः भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः।
मातरो विविधा दृष्टाः पितरः सुहृदस्तथा।
सांख्य योगं समभ्यस्ये पुरुषं वा पंचविंशकम्॥

मैं मरा और फिर जन्मा, मैं जन्मा और फिर मरा। इस प्रकार मैंने जिन नाना प्रकार की सहस्रों योनियों में निवास किया, वहाँ मैंने अनेकों प्रकार के भोजन खाए, नानाविध स्तनों का पान किया, अनेकों माताओं को देखा और अनेकों पिता तथा मित्र देखे। अब फिर माता–पिता के संयोग से गर्भ में संयुक्त हुआ तथा नीचे मुख करके पड़ा हुआ मैं जीव पीड़ित हो रहा हूँ। हे प्रभो! तू मुझे शीघ्र इस स्थिति से उभार कर बाहर निकाल ताकि मैं सांख्य तथा योग का अभ्यास करूँ या पच्चीसवें पुरुष अर्थात् परम तत्त्व परमेश्वर के दर्शन करने के लिये योगाभ्यास करूँ।

गर्भोपनिषद् में गर्भस्थ जीव का यह विलाप और भी बढ़े रोमाञ्चकारी शब्दों में वर्णन किया है–

आहारा विविधा भुक्ताः पीता नाना विधाः स्तनाः।
जातश्चैव मृतश्चैव जन्म चैव पुनः पुनः॥ १॥
यन्मया परिजनस्यार्थे कृतं कर्म शुभाशुभम्।
एकाकी तेन दह्योहं गतास्ते फलभोगिनः॥ २॥
अहो दुःखोदधौ मग्नो न पश्यामि प्रतिक्रियाम्।
यदि योन्याः प्रमुच्येहं तत्प्रपद्ये महेश्वरम्॥ ३॥
अशुभ–क्षयकर्तार फलमुक्तिप्रदायकम्।
यदि योन्याः प्रमुच्येहं तत्प्रपद्ये नारायणम्॥ ४॥
अशुभ–क्षयकर्तारं फलमुक्तिप्रदायकम्।
यदि योन्याः प्रमुच्येहं तत्सांख्यं योगमभ्यस्ये॥ ५॥
अशुभ–क्षयकर्तारं फलमुक्तिप्रदायकम्।
यदि योन्याः प्रमुच्येहं ध्याये ब्रह्म सनातनम्॥ ६॥

मैं जन्मा भी और मरा भी, और इस प्रकार मैं बार-बार जन्मा और बार-बार मरा। मैंने पुनः पुनः जन्म पाकर नाना प्रकार के भोजन खाए और नानाविध माताओं के स्तनों का पान किया और विभिन्न पिताओं से पाला-पोसा गया। इस प्रकार पालन-पोषण पाकर जब जब मैं बड़ा हुआ, जब जब मैं समर्थ हुआ तो मैंने अपने स्त्री-पुत्रों के लिये, अपने बन्धु-बान्धवों के लिये, अपने सम्बन्धियों के लिये बड़े-बड़े शुभ-अशुभ कर्म किये, बड़े-बड़े पुण्य-पाप किये। उन सब के पालन-पोषण करने के लिये, उन सब को सुख-सौभाग्यों से सम्पन्न करने के लिये, उन सबकी सुख-सुविधाओं के लिये, उन सब की प्रसन्नता-खुशहाली के लिये, मैंने बड़े-बड़े उत्सव किये, महोत्सव किये, यज्ञ किये, संस्कार किये, भोज किये, सहभोज किये, दान किये, पुण्य किये। इन्हीं के लिये ही मैंने बड़ी-बड़ी उपदाएँ लीं-दीं, रिश्ते लीं-दीं, मिलावटें कीं चोरियाँ कीं, डाके डाले, जेब काटे, धोखे दिये, छल किये, कपट किये छीना-झपटियाँ कीं, हत्याएँ कीं। इन सब के लिये यह सब पुण्य-पाप करने पर जब मैंने इस सब का परिणाम देखा, तो मुझे यह प्रतीत हुआ कि मैं तो अकेला ही उन सब पापों के कारण जल-भुन रहा हूँ, अकेला ही उन पापों के कारण अत्यन्त दुःखों को भोग रहा हूँ, और वे सब स्त्री-पुरुष, बन्धु-बान्धव तो अपने-अपने ठिकाने जा जा लगे। अहो इस दुःखसागर में डूबा हुआ भी मैं किसी प्रति क्रिया को अपने में नहीं देख पा रहा हूँ। यदि अब की बार मैं इस योनी से मुक्त हो जाऊँगा, इस योनी से बाहर निकल जाऊँगा, तो फिर मैं उस महान् परमेश्वर को प्राप्त करने का ही प्रयास करूँगा। अशुभ कर्मों का विनाश करने वाले और अन्त में मुक्ति प्रदान करने वाले नारायण को मैं जानने का प्रयास करूँगा। अगर मैं इस बार इस योनी से बाहर निकला तो पाप कर्मों को क्षीण करने वाले और मोक्ष को प्रदान करने वाले प्रभु को पाने के लिये मैं सांख्य-योग का अभ्यास करूँगा। यदि इस योनी से अब की बार मैं मुक्त हो गया तो फिर अशुभ वृत्तियों और प्रवृत्तियों को भस्मसात् कर मोक्ष अर्थात् परम आनन्द के प्रदान करने वाले सत्य सनातन परब्रह्म परमेश्वर का मैं ध्यान करूँगा, चिन्तन करूँगा, मनन करूँगा, निदिध्यासन

करूँगा और साक्षात करूँगा। यदि इस बार मैं इस योनी से मुक्त हुआ तो-इस गर्भ रूप कठोर कारावास से मुक्त हुआ तो....!

परन्तु यही जीव जब दसवें महीने में उत्पन्न होता है और उत्पन्न होते ही जब उस को बाहर की हवा लगती है तो फिर वह अपने जन्म-मरण को याद नहीं करता, यहाँ तक कि वह अपने शुभ-अशुभ कर्मों को भी याद नहीं करता।

इस प्रकार गर्भवास में जो जी विलाप करता हुआ अपने सब अच्छे-बुरे कर्मों एवं जन्मों को स्मरण करता हुआ अनेकों संकल्प करता है, अनेकों प्रतिज्ञाएँ करता है, अनेकों व्रत करता है, और अन्त में वह कठोर गर्भरूप कारावास से बाहर निकल कर अपने चरमोद्देश्य-अपने परमोद्देश्य की ओर अग्रसर होकर उस परमपिता परमेश्वर के पाने का निश्चय करते हुए कहता है कि-"मैं यदि इस गर्भवास से बाहर निकल गया तो मैं उस प्राणों से प्यारे और सब जग से न्यारे प्रभु का झूम-झूम कर कृतज्ञता से ओत-प्रोत होता हुआ धन्यवाद करूँगा, भजन करूँगा, पूजन करूँगा, स्तवन करूँगा, गुणगान करूँगा, ध्यान करूँगा, यम-नियम आदि का पालन कर सद्या-सुद्या त्यागी, तपस्वी, अभ्यासी, वैरागी, साधक, योगी बनकर समाधिस्थ हुआ-हुआ अपने शुद्ध-पवित्र हृदय में ईश्वर का साक्षात् करूँगा, दर्शन करूँगा....।" पर यही जीव जब दसवें मास में अपनी माता के गर्भ से बाहर आता है तो फिर अपने ये सब वायदे भूल जाता है। इस संसार में आकर जब यह इन माता-पिताओं को देखता है, इनके प्यार और दुलार को देखता है, इन प्रिय-प्रिय भाई-बहिनों को देखता है, इन बन्धु-बान्धवों को देखता है, इनके स्नेहपूर्वक गोदी में बिठाने और स्नेहपूर्वक ही नाना प्रकार के सुस्वादु खाद्य एवं पेय तथा लेह आदि पदार्थ खिलाने-पिलाने और चटाने को देखता है, इनके द्वारा अपने लिये नाना प्रकार के खेल-खिलौने को लाए जाते हुए देखता है, तो फिर इनके इस प्यार के साथ-साथ जब यह इन खेल-खिलौने से खेलता है, इन प्रिय और सुस्वादु पदार्थों को जब यह देखता और खाता है, पुनः यह प्रेमवश जब इन सब के द्वारा प्रेमवश कराए हुए अपने मुण्डन और जनेऊ तथा विवाह आदि संस्कारों को देखता है, सुख-सौभाग्यों को देखता है, धन-वैभवों को

देखता है, जमीन–जायदादों को देखता है, पद–प्रतिष्ठाओं को देखता है, स्त्री–पुत्रों को देखता है, मान–सम्मानों को और सेवा–सत्कारों को देखता है तो इन सब को देख–देख कर, सुन–सुन कर भोग–भोग कर यह इन में इतना डूब जाता है कि फिर इसको यह ज्ञान ही नहीं रहता कि इस सब के अतिरिक्त भी कुछ है, फिर इस को यह भान ही नहीं रहता कि–इस सबसे बढ़कर भी कुछ ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। इन सब भोगों में, विलासों में पड़कर तो तब इसे अपने गर्भवास में हुए–हुए कष्ट भी भूल जाते हैं और किये हुए सब वायदे भी भूल जाते हैं। यहाँ तक कि शास्त्र इस विषय में, इस को पुनः–पुनः जगाते भी हैं, समय–समय पर सावधान भी करते रहते हैं, परन्तु तो भी इस संसार के इन बन्धु–बान्धवों में इन सुख–सौभाग्यों में, इन सुख–सुविधाओं में, इन विषय–वासनाओं में डूबे हुए इस व्यक्ति को उस प्यारे और सब जग से न्यारे प्राणों के प्राण परम आनन्द के अनुपम स्रोत प्रभु का कुछ ध्यान ही नहीं रह पाता। सचमुच तब यह इस संसार के भोगों में पड़कर इन दुनिया के विषय–विलासों में पड़ कर उस प्रभु को बिल्कुल भूल ही जाता है, बिल्कुल त्याग ही देता है। इससे फिर यह और आपत्ति–विपत्तियों में पड़ जाता है, कष्ट–क्लेशों में फँस जाता है। फिर यह रोता है, दुःखी होता है। सब ओर मारा–मारा फिरता है पर इसे अपने उन कष्ट–क्लेशों का, उन आपत्ति–विपत्तियों का कहीं समुचित समाधान नहीं मिल पाता। वेद का उपर्युक्त दिव्य वाक्य तब इस मनुष्य को कहता है कि–हे मानव! **(तेन त्यक्तेन सह भुञ्जीथाः)** तू इन सब धन–वैभवों में, इन सुख–सौभाग्यों में, इन भोग–विलासों में पड़कर जो जिस ईश को, जो किस जगदीश को भूल बैठा है और भूलकर जिसे सर्वथा तू त्याग बैठा है, उसी प्रभु को साथ लेकर अर्थात् उसकी स्तुति–प्रार्थना और उपासना पूर्वक तू इस सब का उपभोग कर। तो इससे फिर तेरा लोक भी सुन्दर बन जायेगा और परलोक भी दिव्य बन जायेगा। सच कहा है किसी पंजाबी के कवि ने **'कम कार वल दिल यार वल'**–अर्थात् मनुष्य को चाहिये कि वह संसार में खूब कार्य करे, पर कार्य करते हुए भी उसके हृदय में विराजमान भगवान् का सदा उसको भान होता रहे यह उसका प्रयास रहना चाहिये।

अर्थात् वह उसकी छत्र–छाया में अपने को विद्यमान अनुभव करता हुआ इस संसार का उपभोग करे। इस से फिर **''विपन्नारायणविस्मरण सम्पन्नारायण–स्मरणम्''** प्रभु को भूल जाने पर मनुष्य को जो आपत्तियाँ–विपत्तियाँ आ घेरती हैं तो तब जब मनुष्य फिर उस प्रभु को स्मरण करना आरम्भ कर देगा, तो शनैः शनैः फिर उसकी आपत्तियाँ–विपत्तियाँ सब काफूर होने लगेंगी। और फिर पुनः उसके जीवन में सुख–आनन्द बढ़ने लगेगा। फिर जहाँ उसकी दुनियाँ निराली बनने लगेगी, सुख–शान्ति को प्रदान करने वाली बनने लगेगी वहाँ उसका दीन–धर्म–आन्तरिक प्रभु प्रेम भी उसको प्रभु के अनुपम प्यार और आशीर्वाद का पात्र बना देगा जिससे कि वह निहाल हो जायेगा।

इस प्रकार उपर्युक्त वेद वाक्य हमें ऐहिक और पारमार्थिक सुख और आनन्द प्रदान करेगा। जो भी इस वाक्य का मनन–चिन्तन करेगा और इसके अनुसार जी–जान से आचरण करेगा वह फिर जो कुछ भी पायेगा उससे उसको बहुत खुशी मिलेगी, बहुत तृप्ति मिलेगी।

तृतीय रश्मि

मा गृधः। –यजुः० ४०.१

सं० अन्वयार्थ–(**मा गृधः**) हे मनुष्य! तू लोभन न कर, तू लालच न कर।

अन्वयार्थ–हे मानव! (**मा गृधः**) तू लोभ न कर, तू लालच न कर तू किसी के धन–वैभव आदि की अभिकांक्षा न कर, तू किसी के धन–धान्य, पुत्र–कलत्र, मान–सम्मान और पद–प्रतिष्ठा को भूखी दृष्टि से न निहार।

व्याख्या–वेद कहता है–"हे मानव! तू सर्वदा सर्वत्र व्यापक सर्वसाक्षी प्रभु की न्याय–व्यवस्था से जो कुछ भी तुझे अपने कर्मों के आधार पर मिलता है, तुझे चाहिये कि तू उसका सन्तोष पूर्वक उपभोग कर। और अगर तू महान् है, तो तुझे चाहिये कि जो कुछ तुझे अपने कर्मों के आधार पर भी उपलब्ध है, उसका भी तू त्यागपूर्वक उपभोग कर, उस का भी तू पञ्च–महायज्ञ पूर्वक ही सेवन कर, उस का भी तू प्राणप्रिय प्रभु का कृतज्ञ भाव से धन्यवाद करते हुए ही सेवन कर। तू भूल कर भी किसी अन्य के द्रव्य की अभिकांक्षा न कर, लोभ न कर। यदि तू ऐसा करता है तो वेद तुझे पुकार–पुकार कर कहता है–"**मा गृधः, मा गृधः।**"

हे मानव! तू लोभ न कर, तू लालच न कर। तू अपने बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ के आधार पर उपलब्ध हुए धन–वैभव आदि से आगे बढ़कर किसी की वस्तु, किसी के व्यक्ति (स्त्री, पुत्र, पुत्री आदि) वा किसी के स्थान (मकान–दुकान, खेत–खलियान, जमीन–जायदाद आदि) को ललचाई नजर से न निहार, भूखी और तरस्ती हुई दृष्टि से न देख। क्योंकि जहाँ तुझ में यह वृत्ति उत्पन्न हुई और घर कर गई तो वहाँ से ही फिर सर्वविध अनर्थ होने आरम्भ हो जायेंगे। इस वृत्ति के भीतर

१. लेखक ने बोरियों की बोरियों में यह मिलावट करते हुए लोगों को स्वयं अपनी आँखों से देखा है।

विद्यमान रहने पर फिर तुम्हारे हृदय में ईर्ष्या उत्पन्न हो जायेगी, डाह की अग्नि प्रज्वलित होने लगेगी, तब जहाँ तुम दूसरे के धन–वैभव, स्त्री–पुत्र, सुख–सौभाग्य और पद–प्रतिष्ठा आदि को नहीं सह सकोगे वहाँ तुम अपने कर्मों के आधार पर उपलब्ध हुए–हुए अपने वर्त्तमान धन–वैभव का, अपने विद्यमान सुख–सौभाग्यों का, अपने बाल–बच्चों का वास्तविक सुख भी नहीं भोग सकोगे। यदि यह वृत्ति और आगे बढ़ी तो यह छल–कपट का भी रूप धारण कर सकती है, यह चोरी का भी रूप धारण कर सकती है, यह छीना–झपटी, लूट–पाट का भी रूप धारण कर सकती है, यह हिंसा का भी रूप धारण कर सकती है, यह दूसरों को हानि पहुँचाने का कारण भी बन सकती है, यह दूसरे के सुख–सौभाग्यों में आग लगाने का कारण भी बन सकती है।

यह 'गृधा' वह वृत्ति हैं यह लोभ–लालच की वह वृत्ति है, जिस के कारण कि एक दुकानदार सीधे–सादे एक शरीफ व्यक्ति–ग्राहक से अनुचित रूप में अधिक दाम वसूल करता है ब्लेक करता है, कपड़ा कम नापता है, वस्तु कम तोलता है, हल्दी में रंग मिलाता है, मिर्चों में रंग मिलाता है, काली मिर्चों में पपीते के बीज मिलाता है, गर्म मसालों में सम्भवतः लीद मिलाता है, देशी घी में डालडा मिलाता है, मेंहदी में रंगी हुई बारीक रेत मिलाता है,[1] बादामों में कागजी बादाम मिलाता है, अखरोटों में कागजी अखरोटों को मिलाता है, और फिर उन बादामों और अखरोटों को कागजी बादाम और कागजी अखरोटों के भाव से बेचता है, दूधिया दूध में पानी मिलाता है, क्रीम का अंश निकलवा कर दूध बेचता है, तैली तेल में मिलावट करता है, कृषक गेहूँ, चने और चावल आदि में कंकर–पत्थर मिलाता है, सीमेंट वाला ब्लेक करता है, सीमेंट में राख मिलाता है, हलवाई घटिया घी बूरा बेसन आदि लेकर सब कुछ बनाता है, होटल वाला सड़ी–गली सब्जी, दाल लेकर ग्राहकों को खिलाता है, कर्मचारी उपदा–रिश्वत लेता है, स्वार्थी रिश्वत देता है, रिजर्वेशन करने वाला नाना प्रकार से न जाने एक–एक टिकट पर कितना–कितना धन लेता है। इस लोभ का बड़े–बड़े व्यापारों और व्यवहारों में तो कुछ ठिकाना ही नहीं रहता। वहाँ तो फिर मनुष्य सीमाएँ ही तोड़ देता है। वहाँ तो फिर उन लोगों में केवल

यही रह जाता है, हाय पैसा, हाय पैसा, भले ही वह पैसा हो कैसा...कैसा।

यही तो वह लोभ–लालच की वृत्ति है, जिसके कारण मनुष्य अपने कर्मों के आधार पर उपलब्ध धन–वैभव पर सब्र न करके दूसरों से छल–कपट करता है, दूसरों से धोखा–धड़ी करता है, दूसरों की आँखों में धूल झोंक कर अपना उल्लू सीधा करता है, दूसरों की जेब काटता है, दूसरों को लूटता है, दूसरों की माँ, बहिन, बेटी के आभूषण छीनता है, उन माँ–बहिनों के लिए ऐसा करने से रोकने पर उनके हाथ–कान काटता है, और आभूषण हथियाता है, दूसरों की माँ, बहिन, बेटी को ललचाई दृष्टि से देखता है। यही वह वृत्ति है कि जिसके कारण मनुष्य अपनी जमीन–जायदाद पर सन्तोष न करके दूसरों की जमीन–जायदाद पर नाजायज कब्जा करता है। यही वह वृत्ति है जिसके कारण कि कई मनुष्य पहला, दूसरा और तीसरा विवाह करके जब अपनी एक–एक करके तृतीय स्त्री को भी समाप्त कर देता है, तो अन्त में उसकी कलई खुल जाती है, और उसकी भद्द पिट जाती है। यही वह वृत्ति है जो भाई को भाई का शत्रु बनाती है, पड़ोसी को पड़ोसी का दुश्मन बनाती है, घनिष्ट मित्र को घनिष्ट मित्र से पृथक् करती है। यही वह वृत्ति है जिसके कारण अनेकों नव–विवाहिता बहिनें कम दहेज के कारण मार दी जाती हैं या वे स्वयं ही तंग आकर अपने पर मिट्टी का तेल डालकर संसार से विदा हो जाती हैं, यही वह वृत्ति है जिसके कारण आज हमारी अनेकों बहिनें ३०–३०, ३५–३५ वर्षों तक अविवाहित पितृकुल में बैठी हुई अपने भाग्य और समाज को कोस रही हैं। यही वह वृत्ति है जिसके कारण अनेकों बेटियों वाले माँ–बापों को रात को चिन्ताओं के कारण नींद नहीं आती है, यही वह वृत्ति है जिसके कारण अनेकों बेटियों को अपने माँ–बाप की दयनीय दशा देखकर अपने को आग–पानी आदि की भेंट कर उनको निश्चिन्त करने का दुष्प्रयास करती हैं। यही वह वृत्ति है जिसके कारण समीप से समीप के सम्बन्धों में खटास पैदा हो जाती है, यहाँ तक कि कई बार मित्र मित्र में भेद पड़ जाता है, भाई–भाई से बड़ी दूर जा पड़ता है, भाई बहिन से परे जा खड़ा होता है। यही

वह वृत्ति है जिसके कारण बड़ी–बड़ी चोरियाँ होती है, डाके डाले जाते हैं, हत्याएँ होती हैं। जैसे एक दुकानदार ने मुझ (लेखक) से स्वयं आकर कहा कि एक बार एक नेत्रहीन व्यक्ति पास वाले ग्राम से अपनी पत्नी के साथ नगर में आया और कुछ आटा–सा लाया उसने मेरी दुकान पर आकर पूछा कि– 'सेठ जी! आपको आटा चाहिये क्या? इस पर मैं ने कहा–हाँ चाहिए।' यह सुनकर उसने आटा मेरे आगे रख दिया। मैंने भाव पूछा तो वह बिचारा बोला कि–''सेठ जी! हमें तो मालूम नहीं जैसा भाव हो वैसे ले लो, और तोल भी आप ही लो।'' यह सुनकर मैंने आटा भी बाजार से रियायती भाव से लिया और कुछ तोला भी लोभवश अधिक.....। मैंने पैसे दे दिये और वह बिचारा अपनी राह चला गया। यह सब कुछ करते हुए मेरी अन्तरात्मा मुझे कोसती रही पर मैं लोभवश यह सब कर गया इतने में मेरा पुत्र बाहर से आया और आते हुए बस में अपना एक नया खरीदा हुआ बड़ा ही मूल्यवान जूतों का जोड़ा भूल आया। पुनः जाकर देखा पर फिर वह मिला नहीं। यह सब देख कर मुझे बड़ी ग्लानि हुई और मैं झट इधर–उधर गया उस बृद्ध व्यक्ति को ढूँढ़ने यह सोचकर कि यदि वह मिल जाए तो जैसी मेरी आत्मा कहती है उसके अनुसार उसको कुछ और पैसे दे आऊँ। पर बहुत ढूँढ़ने पर भी वह मुझे मिला नहीं। इसी तरह एक बादामों के थोक व्यापारी को मैंने स्वयं देखा कि वह बादामों में कुछ कागजी बादाम मिला रहा था। मैं उस समय तो समझ नहीं पाया, पर बाद को अगले दिनों जब वह दूसरों को बादाम दिखाने लगा तो वही कागजी–कागजी छाँटकर उसने मुख से तोड़े और कहा कि देखो कैसे बढ़िया बादाम है, और अगर अगला कोई सख्त बादाम बता देता तो वह कहता कि– ''कोई एकाध दाना ऐसा भी आ गया होगा।'' कुछ वर्ष हुए एक बुढ़िया ने किसी नवयुवक को स्टेशन पर कहा कि–''बेटा! जरा एक गिलास पानी ला दो, तो इस पर वह युवक बोला–माँ जी, पानी तो यह कर्मचारी भी आपको पिला देगा। आपने मुझे बेटा कहा है तो मैं तो आप को दूध–चाय लाकर दूँगा। पानी उसको उसने वहीं से पिलवा दिया। चाय–दूध वह स्वयं लाया। बुढ़िया ने वह पी लिया। इस से वह मूर्छित–सी होने लगी और

वह उसका सामान लेकर चलता बना। कल ही १७ मार्च हिन्दुस्तान समाचार पत्र में आया कि डाकुओं के एक गिरोह ने कल रात दिल्ली की ओर जा रही आसाम मेल के एक ३ टियर वाले शयनयान के लगभग ७० यात्रियों को बरौनी और सिमरिया के बीच लूट कर लगभग ४-५ लाख रुपये की नकदी और जेवर समेट लिये।''

यहाँ राज्य पुलिस मुख्यालय में प्राप्त सूचना के अनुसार रेलगाड़ी में लूट-पाट करने वाले लगभग २० डाकू चेहरे पर नकाब लगाए हुए थे तथा उनके पास देसी रिवाल्वर और खंजर थे। इन डाकुओं ने प्रतिरोध करने वाले १२ यात्रियों को घायल भी कर दिया। यहाँ तक कि इस ४५ मिनिट की लूट-पाट में एक युवती के कर्णाभरण-कानों की बालियाँ उतारने से इनकार करने पर उसका कान भी काट लिया। इस प्रकार जहाँ रेलगाड़ी जरा धीमी हुई कि वे सब फरार हो गए।

इसी लोभ में आकर एक व्यक्ति जब अपने पिता की पूर्ण सम्पत्ति का स्वामी बनना चाहता है तो यह पूछे जाने पर कि ''क्या आपके पिता की सम्पत्ति में कोई और बहिन-भाई आदि भी हकदार या बलिवारिस तो नहीं है?'' इस पर वह उत्तर देता है कि 'मेरी एक बहिन थी, जो मर गई है।' ग्राम प्रधान आदि से मालूम करने पर उसकी एक बहिन का पता लगा। और उसको बुलाने पर ८००० रुपये उस बहिन के भाग में आये। बहिन को भाई की इस बात का पूर्व ही पता चल गया था। अतः ८००० रुपया प्राप्त करने के उपरान्त भी वह भाई से बोली कि-'भैय्या यह लो वे ८००० रुपये। मैं इतनी कमीनी नहीं हूँ कि ये रुपये ले लूँगी। प्रभु ने मुझे बहुत कुछ दिया है; पर इतना अवश्य मैं कह देती हूँ कि फिर कभी धन के लोभ में आकर अपनी जीवित जागृत बहिन को मृत मत कह देना...। इसी तरह एक भाई को पाकिस्तान में रही हुई सम्पत्ति के प्रतिरूप में भारत सरकार से जब ४००० रुपये मिले, तो वह उसमें से एक बहिन को कुछ फल वस्त्रादि लाकर देने के उपरान्त दूसरी छोटी बहिन के पास राजपुरा गया। बहिन के पास उसने नगद रुपया रख दिया और शौचादि चला गया। उस बहिन ने अपने पति के कान में कहा-''यदि भाई को समाप्त कर दिया

जाए तो यह सब धन अपने पास ही रह जायेगा।'' पति के डाटने पर भी वह रात्रि को वही सब कुछ करती है जो कि उसे नहीं करना चाहिए था। यह बात पृथक् है कि आगे उसकी कलई खुल जाती है, और प्रभु कृपा से भाई बच जाता है। राजा मुञ्ज जिस को अपने बड़े भाई ने राज्य दिया था और उसको गोदी में भोज को बिठाकर कहा था कि-''जब यह भोज समर्थ हो जाए तो इसको गद्दी पर बिठा देना।'' पर भोज अभी गुरुकुल में पढ़ ही रहा था और चन्द्रमा की कला के समान दिनों दिन सब दृष्टि से बढ़ ही रहा था कि उसकी प्रशंसा मुञ्ज तक जा पहुँची। राज्य के लोभ में फँसे हुए उस मुञ्ज को बड़ा दुःख हुआ, ईर्ष्या भी हुई, यह विचार कर कि इसके समर्थ होते ही उसे राज्य देना पड़ेगा। इस पर एक दिन उसने सोचा-''क्यों न इस काँटे को पहिले से ही समाप्त कर दिया जाय। उसने ऐसा ही किया। राज्य के लोभ में उसने उसको मरवाने की सारी योजना बना ली। अपनी ओर से तो उसे मरवा भी दिया।'' यह बात पृथक् है कि मन्त्री की बुद्धिमानी से वह बच गया। पर भोज के एक श्लोक से जब मुञ्ज की आँखें खुली और लोभ का भूत जो उसके सिर पर सवार था, वह उतरा, तो फिर वह स्वयं ही सिर धुन-धुन कर रोने लगा और पश्चात्ताप करने लगा...। इस संसार में जब इतने बड़े-बड़े व्यक्ति जब लोभ के चक्कर में आकर कुछ का कुछ कर बैठते हैं तो कई बार बड़ा आश्चर्य और बड़ा दुःख भी होता है। एक डॉक्टर सहारनपुर में धन-दहेज के लोभ में पहली पत्नी को ही नहीं दूसरी को ही नहीं, जब तीसरी पत्नी को भी परलोक का अतिथि बना देता है तो तीसरी बार तो उसकी इस काली करतूत का पर्दा फाश हो जाता है। और तब बहुत कुछ धन बाँट देने पर भी वह बच नहीं पाता। तब वह सारे समाज की दृष्टि में बहुत गिर जाता है और सरकार के कठोर दण्ड का भी भागी बन जाता है। इसी तरह बम्बई में एक व्यक्ति अपनी बेटी के रिश्ते का प्रस्ताव लेकर जब एक बड़े व्यक्ति के पास जाता है तो अगला व्यक्ति कहता है-''हमारी कुछ माँगें हैं। यदि आप उन्हें पूरी कर देंगे, तो फिर हम विवाह का विचार करेंगे।'' इस पर उसने कहा कि कहिये मैं नोटकर लेता हूँ इस पर जब उस लड़के के पिता ने माँगें

रखी, तो वे इतनी अधिक थी कि जिन का कुछ ठिकाना ही नहीं था। उस में सामान्य चीजों की तो गणना ही क्या की जाए, बहुत बड़ी नगदी, विदेश भ्रमण के लिये पृथक् धन की माँग, पर्याप्त आभूषणों और कार आदि की माँग भी थी। लड़की का पिता सहज स्वभाव से ही वह नोट करता रहा। इसके अनन्तर कन्या के पिता ने कहा कि–और तो आपने सब चीजें लिखवा दी हैं पर एक वस्तु ऐसी जिस कि आप भूल गए हैं। लड़के का पिता बोला कि–आप बतलाईये कि मैं वह कौन–सी आवश्यक वस्तु भूल गया हूँ। लड़की वाला बोला "वैसे तो सेठ जी आपने इतना कुछ लिखवा दिया है कि अगर आप का पुत्र सारा जीवन कुछ भी कार्य न करे तो इसमें ही उसका बहुत बढ़िया गुजारा हो सकता है। हाँ मुझे भय है कि यदि आप का पुत्र इतना निकम्मा है कि वह अपने लिये स्वयं कुछ अर्जित ही नहीं कर सकता तो एक कफन और शेष है वह भी आप मुझ से लिखवा लीजिये ताकि उसे कुछ भी जीवन में पुरुषार्थ न करना पड़े।" इस पर लड़के का पिता भी कुछ तिलमिलाया और कुछ का कुछ बोलने लगा। सम्बन्ध तो क्या होना था उल्टा और ही दोनों के मन बड़े खराब हुए...। तो यह सब परिणाम अति लोभ का ही है न?

सचमुच जब मनुष्य मर्यादाओं को लाँघ कर लोभ के वशीभूत हो जाता है, तब उसे कुछ ठीक–ठीक दीखता नहीं कि मैं क्या सोचता हूँ, क्या करता हूँ। तब उसके हृदय में न दया रहती है, न धर्म रहता है, न शर्म रहती है, न हया रहती है। तब उसके दिल में न किसी के प्रति स्नेह रहता है, न सहानुभूति रहती है। उस समय तो वह कुछ भी कर सकता है। यहाँ तक कि एक तो यह व्यक्ति वैसे ही शराब बेचकर लोगों के घर–बार और स्वास्थ्य का नाश करता है, पर इतने पर भी जब इसे सब्र नहीं आता, तब यह न जाने धन के प्रति लोभ में क्या–क्या उसमें मिला देता है, जिसके पीने पर एक ही समय में अनेकों ढेर हो जाते हैं। इस प्रकार धन का लोभी कितनों की जान ले सकता है, कितनों के सुहाग का सिन्दूर साफ कर सकता है, यह कुछ नहीं कहा जा सकता! इस धन के प्रति लोभ में आकर कोई होटल वाला मांसखोरों को "कि कौन २० रुपये किलो का मांस

खरीद कर खिलाए, यह सोच कर छोटे–छोटे बच्चों की हत्या कर उसी को ही पकाकर उन्हें खिला देता है और किन्हीं माताओं की झोली को खाली कर देता है। यों धन का लोभ बुरा नहीं है, यदि यह मर्यादा में रहे तो। और फिर पुरुषार्थ की कमाई के रूप में यदि वह उपलब्ध किया जाय तो इसके बहाने एक अच्छा दुकानदार अच्छी वस्तु अपने ग्राहक को उपलब्ध भी करा सकता है। पर जब यही लोभ अमर्यादित हो जाता है तो फिर मनुष्य बिना पुरुषार्थ किये ही, बिना पसीना बहाए ही इस धन को एकदम पाना चाहता है। तब इस लोभ की वृत्ति के कारण बड़े–बड़े अनर्थ होने लगते हैं। इस प्रकार इस लोभ के अत्यन्त घृणित और घिनौने परिणामों को देख–देख कर वेद ने मानव को सावधान करते हुए यह उपदेश दिया है कि–"हे मानव! तू ऐसे लोभ से बच, ऐसी लालच से बच।" यदि मनुष्य वेद के इस उपदेश के अनुसार इस लालसा की वृत्ति से बच कर अपने पुरुषार्थ की कमाई पर ही सन्तुष्ट रहे, या व्यापार आदि में भी उचित मुनाफा लेकर सन्तुष्ट रहे और उस उपलब्ध आय का भी वह त्यागपूर्वक उपभोग किया करे। अर्थात् वह खिला कर खाये, पहना कर पहने, ओढ़ा कर ओढ़े, तो फिर जहाँ उसका लोक सुन्दर होगा, वहाँ उसका परलोक भी दिव्य होगा। अतः मनुष्य को चाहिये कि वह वेद के इस उपदेश को हृदयङ्गम करे और तदनुसार जी–जान से उसका पालन करे।

चतुर्थ रश्मि

कस्य रिवद् धनम्। –यजु० ४०.१

सं० अन्वयार्थ–हे मानव! **(धनं कस्य स्वित्**[1]**)** यह धन किस का है, यह अपने भीतर तर्क–वितर्क करके सोच। यह धन–वैभव किस का है, यह भली–भाँति अपने हृदय में विचार।

अन्वयार्थ–हे मानव! **(धन कस्य स्वित्)** तू अपने हृदय में सदा यह विचार कर–तू अपने मन में सदा यह मनन–चिन्तन किया कर कि आखिर यह धन किस का है ?

यदि हम ''यह धन किस का है ?'' इस प्रश्न का उत्तर खोजना चाहें, यदि हम इस प्रश्न का उत्तर जानना चाहें, तो हमें कहीं अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं है। इसी वाक्य में ही हमें इस प्रश्न का उत्तर मिल जायेगा।

प्रश्न–'धनं कस्य स्वित् ?' यह धन किसका है ? यहाँ यह 'कस्य' शब्द जहाँ प्रश्नवाचक है, वहाँ यह उत्तरवाचक भी है। तो फिर यहाँ इस उत्तरवाचक 'कः' का अर्थ 'प्रजापति'[2]।

तो इस प्रकार उपर्युक्त प्रश्न–'धन किस का है ?' का इसी वाक्य के अनुसार उत्तर यह हुआ कि–'धनं कस्य स्विद्'[3] यह धन 'कः' का ही है, यह धन प्रजापति परमेश्वर का ही है, इन सब प्रजाओं के स्वामी प्रजापति का ही है। क्योंकि वह इस धन–धान्य से, इस धन–वैभव से सारी प्रजा का पालन–पोषण करता है, वह इस धन–सम्पत्ति से अपने निश्चल न्याय पूर्वक सब के कर्मानुसार सब को फल प्रदान करता रहता है। इसलिये यह सब धन उस राजाओं के राजा, उस स्वामियों के स्वामी, उस मालिकों के मालिक, उस प्रजापति परम पिता परमेश्वर का ही है। वह इस सब संसार के प्राणियों को, अपनी प्रजा, अपनी सन्तान समझ कर इससे सब का न्यायानुसार पालन–पोषण करता रहता है। इस संसार का भी जो यह प्रजापति है, राजा है, वह भी अपनी इस प्रजा को पुत्रतुल्य मान कर इस का पालन–पोषण करता है। क्योंकि यह भी उस महान् प्रजापति

१. स्विदिति वितर्के। २. को वै प्रजापतिः। शतपथ
३. स्विद्–एवार्थे।

प्रभु का प्रतिनिधि है। अतः धन उस 'कः' का भी है। इसी प्रकार जो पिता अपनी प्रजा का इस धन–वैभव से न्यायपूर्वक पालन–पोषण करता है, यह धन–वैभव उस का भी है। इसी प्रकार जो व्यक्ति इस धन–वैभव से अपनी इन्द्रिय रूप प्रजा का आत्मानुसार पालन–पोषण करता है, यह धन उस का भी है, क्योंकि वह भी प्रजापति के व्रत का पालन करता है। इस प्रकार जैसे इस संसार में वह प्रजापति परमेश्वर नाना प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न करता है, और उत्पन्न हुए पदार्थ फिर वह सब को प्रदान करता है। वह इसलिये कि सब का भली–भाँति पालन–पोषण हो सके। वह संसार में वेदरूपी ज्ञान का भी प्रकाश करता है, तो वह भी इसलिये कि इसका स्वाध्याय कर, इसके अनुसार आचरण कर जहाँ सब ऐहिक सुख–सौभाग्यों को भोग सकें वहाँ पारमार्थिक आनन्द को भी उपलब्ध करने के लिये अपना पग आगे बढ़ा सकें इत्यादि। यही वृत्ति यदि इन प्रजापतियों की भी रहती है, इन राजाओं को भी रहती है, तो ये उस प्रजापति परमेश्वर के ही व्रत का पालन करते हैं। अतः इन का भी वह धन–वैभव है। परन्तु है वह तभी तक ही जब तक कि ये उस परम प्रजापति प्रभु के अनुसार उस धन–सम्पत्ति से सबका पालन–पोषण करते हैं, अन्यथा फिर यह धन–वैभव उस प्रभु का ही हो जाता है। अर्थात् वह इस से फिर यह सब धन–वैभव छीन लेता है। यह नियम क्रमशः सब प्रजापतियों का है, जैसे एक व्यक्ति जब अपनी इन्द्रियरूप प्रजा का यथोचित न्यायानुसार पालन–पोषण नहीं करता तो फिर प्रभु डॉक्टर–वैद्य द्वारा उसका वह धन–वैभव उससे छीन लेता है, और उसे फिर ऐसे ढंग से उस व्यक्ति पर व्यय कराता है कि जिस से उसकी सब इन्द्रियरूप प्रजा का समुचित पालन–पोषण हो सके। अर्थात् डॉक्टर–वैद्य के निर्देशन में उसके शरीर के प्रत्येक अङ्ग–प्रत्यङ्ग को न्यायानुसार समुचित खुराक मिल सके ताकि वह पुनः पूर्ण स्वस्थ हो सके। एक पिता रूप प्रजापति जब उस महान् प्रजापति प्रभु–प्रदत्त धन–वैभव से अपनी सन्तानरूप प्रजा का पालन–पोषण नहीं करता है, और उस का शराब आदि व्यसनों में दुरुपयोग करता है, तो फिर वह परम–प्रजापति प्रभु उसको प्रजापति पद से पृथक् कर उसकी जगह गृहणी–

माता को वा उस घर की किसी समर्थ सन्तान को प्रजापति बनाता है, ताकि वह उस परिवार का भली–भाँति पालन–पोषण कर सके। इसी प्रकार जब एक यह प्रजापति राजा–महाराजा जब विषय–विलासों में पड़ जाता है और अपनी प्रजा का पालन ठीक–ठीक नहीं करता है, तो फिर प्रभु उसको प्रजापति पद से उखाड़ फेंकता है। देखो, १९७७ में इन्दिरा गाँधी कैसे गई, और मुरारजी देसाई कैसे आ गए! पर जब मुरार जी से भी ठीक कार्य नहीं हो पाया तो फिर वह भी कैसे गए, और फिर श्रीमती इन्दिरा गाँधी कैसे आ गई! यद्यपि इन दोनों में से न तो इन्दिराजी को यह आशा थी कि वह हारेगी, और न ही मुरारजी देसाई को यह ज्ञान था कि वह जीतेगा और राजसिंहासन पर विराजमान होवेगा। पर यह सब कुछ हुआ, और इसे देखकर जहाँ इन्हें आश्चर्य हुआ वहाँ सारी प्रजा भी आवाक रह गई। पुनः देसाई को भी यह आशा नहीं थी कि वह इतनी जल्दी सिंहासन से नीचे आ जायेगा और उस की अभी १०–१० वर्षों की प्लेनिंग्स, स्कीमें सब यों की यों धरी की धरी रह जायेंगी। और इन्दिरा गाँधी को भी इतना विश्वास नहीं था कि वह इतना शीघ्र फिर राजसिंहान पर आरूढ़ होकर पुनः २० सूत्री कार्यक्रम को आगे बढ़ायेगी। पर यह सब कुछ जब दुबारा हुआ तो जहाँ प्रजा को अपने कार्य के परिणाम पर आश्चर्य हुआ वहाँ इन नेताओं को भी। तो यह सब उस प्रजापति प्रभु का ही कार्य है। अतः इस मन्त्रांश में जो प्रश्न किया गया है कि–''धन कस्य स्वित्''–यह धन किस का है ? तो इस का उत्तर इसी मंत्रांश में ही यह दिया गया है कि ''धनं कस्य स्वित्'' [–एव] यह सब धन–वैभव, उस 'कः' अर्थात् प्रजापति परमेश्वर का ही है। अतः जो प्रजापति परमेश्वर के व्रत का पालन करता हुआ इस सब प्रभु प्रदत्त धन–वैभव से अपनी प्रजा–संतान का पालन–पोषण करता रहता है, इस सब धन–वैभव से उस प्रजा को विद्या–सुशिक्षा से अलंकृत करता रहता है, उसके निर्माण के लिये विद्यालय–महाविद्यालय आदि खोलता रहता है, तो ऐसे व्यक्ति को प्रभु खूब देता है। वैसे भी कहा गया है शास्त्र में कि–

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति॥

धन की तीन ही गतियाँ होती हैं, या तो इसे जनकल्याण के कार्यों में व्यय कर दिया जाय, या फिर स्वयं परिवार के साथ इस का उपभोग कर लिया जाय, नहीं तो इन दोनों के अभाव में तो फिर इस की तृतीय गति अर्थात् इस का विनाश निश्चित है ही। इसलिये सब को चाहिए कि इस धन को 'कः' का अर्थात् प्रजापति परमेश्वर का समझें और उसी के आदेश–उपदेश और निर्देश के आधार पर इस को अपनी इस प्रजा सन्तान के पालन–पोषण में लगायें। इतना ही नहीं इससे आगे बढ़कर समाज में जो दीन–दुःखी असहाय हैं उनमें उसका व्यय कर उनकी विद्या–सुशिक्षा में लगाएँ। ज्ञानियों में, त्यागी–तपस्वी महापुरुषों पर लगाएँ। कहने का अर्थ यह है कि–अपने परिवार से अतिरिक्त अन्य तीनों आश्रम वासियों को भी इससे सब प्रकार की सुख–सुविधाएँ पहुँचाए। इन लोगों के ऐसा करने पर जहाँ बाहर संसार के लोगों के द्वारा उन्हें मान–सम्मान और यश मिलेगा वहाँ उन्हें हृदय के भीतर विराजमान प्रभु के द्वारा भी बड़ी तृप्ति मिलेगी। धन का अर्थ भी इसलिये 'धनं' होता है कि ''धिनोतीति सतः'' यह दूसरों को तृप्त करता रहता है। अतः यह जिसके पास आए उसका कर्त्तव्य हो जाता है कि–वह इस आधार पर आने वाले खाद्य एवं पेय पदार्थों द्वारा वा इससे प्राप्त होने वाले वस्त्र–आच्छादनों द्वारा दूसरों को सदा तृप्त करता रहे, प्रसन्न करता रहे। प्रजापति परमेश्वर इसी उद्देश्य से यह सब धन–धान्य हमें प्रदान करता है।

'कः' का एक दूसरा भी बड़ा सुन्दर अर्थ है, वह है–'सुखस्वरूप परमेश्वर।' उस अवस्था में जब यह प्रश्न होगा कि–'धनं कस्य स्वित्' धन किस का है, यह सोचो–विचारो, तो इस प्रश्न का उत्तर होगा कि–''सुखस्वरूप परमेश्वर का ही है यह धन–वैभव आनन्दस्वरूप प्रभु का ही है।''

यह धन सुखस्वरूप प्रभु का ही है, फिर भी उसने हमें अपनी न्याय–व्यवस्था से जो यह धन–धान्य, जो यह खाद्य एवं पेय–पदार्थ, जो यह पहनने और ओढ़ने के पदार्थ, जो यह रुपये–पैसे, हीरे–मोती रत्न आदि सब पदार्थ प्रदान किये हैं, वे सब पदार्थ केल उस प्रभु ने हमें इसलिये प्रदान किये हैं कि हम इनसे स्वयं सुख पाएँ और अपने सम्पर्क में आने वालों को भी

इससे सुख पहुँचाएँ। यदि हम उस प्रभु के वेदादेश के आधार पर वा सत्प्रेरणा के आधार पर, अपने कर्मों के अनुसार प्रभु से उपलब्ध उस धन–वैभव से, सुख–सौभाग्य से, खाद्य एवं पेय पदार्थ से, शाक–फलों से न स्वयं सुख पाते हैं, और न ही दूसरों को सुख प्रदान करते हैंतो ऐसी स्थिति में हम उस प्रभु के कार्य में विघ्न डालते हैं–उस महान् परमेश्वर के कार्य में बाधा डालते हैं। ऐसी अवस्था में वह यह सब कुछ हम से छीन लेता है। एक बार की बात है कि आर्यसमाज का वार्षिकोत्सव हो रहा था अतः कुछ सज्जन मिलकर चन्दा करने गये। वे एक व्यापारी के पास पहुँचे और उसे कहा कि ''आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर जो आप से हो सके वह आप प्रदान कर हमें कृतार्थ करें।'' इस बात को सुनकर दुकानदार बोला–''एक तो वैसे ही बरसात है, अपनी रोजी–रोटी तो हम से अर्जित नहीं हो पाती, इस पर भी आए दिन आप सब दान माँगने चले आते हैं.....।'' खैर उस दुकानदार से उन सज्जनों को ५ रुपये भी नहीं प्राप्त हुए और वे सब वहीं से निराश ही लौट गए। पर वही व्यक्ति तीसरे दिन अपनी दुकान पर बैठा हुआ एक व्यक्ति को कहता है कि ''अमुक व्यक्ति बड़ा ही दुष्ट है आदि–आदि।'' यह सुनकर वह व्यक्ति बोला–कहो, तो उस को ऐसा पाठ पढ़ा दूँ कि वह सदा याद रखे। और कहो तो तुम्हारे सामने से उसको हथकड़ी लगवा कर निकलवा दूँ। यह सुनकर वह बोला कि–''अगर तू ऐसा करवा दे तो मजा आजाए।'' वह व्यक्ति बोला कि–यह कार्य ऐसा थोड़े है जो यों ही हो जाता है, इस में तो बड़ा पैसा लगता है। और फिर दो– चार सौ में भी यह काम नहीं होता। ऐसे कार्य में तो हजार दो हजार रुपया लग जाना मामूली बात है। इस पर वह दुकानदार कहता है–'अगर तू सचमुच ऐसा करवा दे तो हजार रुपया तो मैं इस कार्य के लिये अभी ही दिये देता हूँ, शेष फिर देख लेंगे।' यह बात जब उन सज्जनों के कानों में पड़ी जो कि अभी दो दिन पूर्व ही उस दुकानदार से आर्यसमाज के उत्सव हेतु दान लेने आए थे, तो उन्हें बड़ा कष्ट हुआ। पर आखिर वे कर भी क्या सकते थे! फिर भी उनमें से एकाध से नहीं रहा गया और वह उस दुकानदार के पास गया और बोला 'देखो, परसों तो जब हम ५

व्यक्ति आप से आर्यसमाज के उत्सव के लिये सहयोग लेने आए थे तो तब प्रार्थना करने पर भी आप से उस शुभ कार्य के लिये ५ रुपये भी नहीं दिये गये, पर आज दूसरे को हथकड़ी लगवाकर बाजार में से निकलवाने मात्र के लिये न जाने आप के पास यह सहस्र रुपया कहाँ से आ गया ?' स्मरण रख, मेरे प्यारे बन्धुवर! यह धन–वैभव, यह सुख–सौभाग्य, जो प्रभु ने तुझ को दे रखा है, यह सब दूसरों को सुख देने के लिये दे रखा है दुःख देने वा कष्ट पहुँचाने के लिये नहीं। अतः तुम्हें सदा यह प्रयास करते रहना चाहिये कि तुम्हारा यह धन–वैभव सदा दूसरों को सुख पहुँचाने में ही व्यय हो, दुःख देने में नहीं। सचमुच जिस दिन तुम ऐसा प्रयत्न करने लगोगे कि तुम्हारा एक–एक विचार, तुम्हारा एक–एक पैसा, तुम्हारा एक–एक अन्न का दाना तुम्हारा एक–एक पदार्थ सदा दूसरों को सुख–शान्ति पहुँचाने में लगे, तो तब उस 'कः' अर्थात् सुखस्वरूप प्रभु के उद्देश्य मैं सर्वदा तुम सहायक होते रहोगे। और तब तुम यह सब कुछ कर के जहाँ संसार में स्नेह–सम्मान, यश और प्यार के पढ़ना है पात्र बनोगे, वहाँ उस प्यारे और सब जग से न्यारे प्रभु के भी अनुपम प्यार और आशीर्वाद के पात्र बनोगे। तब तुम्हारा लोक और परलोक दोनों ही सुन्दर बन जायेंगे। ऐसी अवस्था में फिर तुम प्रभु के प्रदान किये हुए इन उत्तमोत्तम सात्विक एवं पौष्टिक जौ, गन्ने, और अंगूर आदि सुन्दर–सुन्दर पदार्थों से शराब आदि नहीं बनाओगे और सब के घर–परिवार आदि को नहीं उजाड़ोगे, वरन् तब तो तुम इन सात्विक पौष्टिक उत्तम पदार्थों के उत्तमोत्तमरूपों (Barley Water) जौ का पानी, गन्ने की चीनी, गुड़, बूरा, शक्कर और अंगूर की किशमिश–सौगी–दाख बना–बना कर सब को सुख ही सुख पहुँचाने का प्रयास करते रहोगे। इस प्रकार के सभी कार्यों से तुम फिर संसार के साथ–साथ प्रभु का भी प्यार पाओगे। क्योंकि तुम्हारे ये सभी कार्य उस सुख–स्वरूप प्रभु के अनुसार होंगे। पर अगर उस प्रकार प्रभु से यह सब बुद्धि–बल, धन–वैभव आदि पाकर भी तुम इस सब से मानव मात्र को सुख नहीं वरन् दुःख देते रहोगे तो फिर वह प्रभु मृत्यु के उपरान्त ही नहीं वरन् जीते जी भी तुम से यह सब कुछ छीन सकता है।

''धनं कस्य स्वित्'' यह धन वैभव किस का है ? यह तन और मन–बुद्धि आदि किस के हैं ? तो इस का उत्तर है कि– **''धनं कस्य स्वित–धनं कस्य एव–अस्ति''**–धन 'कः' का ही है। अब यह 'कः' कौन है ? तो इसका तृतीय बड़ा सुन्दर अर्थ यह है 'कै–गे शब्दे' धातु से 'कायतेर्डिमि' (उणादि०) डिमि प्रत्यय करने पर 'किम्' शब्द बनता है। उस 'किम्' शब्द का पुल्लिङ्ग रूप है 'कः'। इस प्रकार, इस 'कः' का अर्थ हुआ–''कौति शब्दयति–उपदिशति–इति कः, तस्य एव धनमस्तीति।'' जो सब को उपदेश देता है वह 'कः' कहाता है। उसी 'कः' का, उपदेशक का ही यह सब धन–वैभव है। बहुत ही सुन्दर यह अर्थ है।

प्रायः प्रत्येक मनुष्य यह कहता है कि यह मन मेरा है, यह तन मेरा है, यह धन मेरा है, यह जमीन मेरी है, यह कोठी मेरी है, यह कार मेरी है, यह गौ मेरी है, यह भैंस मेरी है, यह बकरी मेरी है, यह पत्नी मेरी है, यह पुत्री मेरी है, यह पुत्र मेरा है, यह घोड़ा मेरा है, इत्यादि। पर वेद कहता है, नहीं यह सब कुछ तुम्हारा नहीं है। तो फिर भला यह सब कुछ उसका है जिसको इसके लिये दर्द है, जिसको इसके लिये तड़प है, जो सदा इसका सदुपयोग करने के लिये सब को उपदेश देता है, जो इसका सदुपयोग करने के लिये सब को प्रेरणा करता है, सदुपदेश देने में भी जो सब से बढ़कर है उसका ही है केवल यह सब कुछ।

देखो, एक ताँगे वाला कौचवान जब नगर में अपने ताँगे में ६–७ सवारियाँ बैठा कर ले जाता है तो झट एक सिपाही आता है और उसको कहता है–यह क्या कर रहा है तू ? 'घोड़े की जान लेगा क्या ?' यह सुनकर ताँगे वाला कहता है–''तुझे क्या यह मेरा घोड़ा है, यह मेरा ताँगा है, चाहे इसमें मैं कितनी भी सवारियाँ बिठाऊँ।'' इस पर सिपाही बोलता है–देखो, यह घोड़ा तुम्हारा नहीं है, यह घोड़ा राष्ट्र का है। अतः तू यदि इसका दुरुपयोग करेगा तो तेरा चालान कर दिया जायेगा। इस पर ताँगे वाला मौन हो जाता है और दो सवारी उतार देता है, केवल पाँच ही ले जाता है। वेद तो और आगे बढ़कर कहता है कि यह घोड़ा इस राष्ट्र का भी नहीं है वरन् इस महान् संसार

रूप महाराष्ट्र का है उस राजाओं के भी राजा महान् परमात्मा का है। इसलिये जब कभी यह राष्ट्र वा इस राष्ट्र का स्वामी यह राजा भी उसका दुरुपयोग करता है--उस पर अत्याचार करता है तो इस महाराष्ट्र के स्वामी, इस समस्त जगत् के स्वामी जगदीश्वर का जो सिपाही ज्ञानी, विद्वान्, तपस्वी, संन्यासी है, वह झट इस राष्ट्र के राजा को भी ऐसा करने से रोकता है। और यदि वह नहीं मानता और उसे कहता है कि यह हमारा घोड़ा है हम चाहे जैसा भी इसका प्रयोग करें तो इस पर वह कहता है कि यदि तू इसका दुरुपयोग करेगा, इस पर अन्याय करेगा, तो वह राजाओं का राजा तुम से यह घोड़ा ही नहीं वरन् तुम से यह सब राज्य भी छीन सकता है। अर्थात् तुम को इस सब राज्य वैभव से भी वञ्चित कर सकता है।

ऐसे ही एक व्यक्ति जब आत्महत्या करने गया तो राज्याधिकारी को पता लग गया। वह झट आया और बोला कि तू ऐसा क्यों कर रहा है ? तो इस पर वह बोलता है–''यह मेरा शरीर है, मैं चाहे इस का जो भी कुछ करूँ, आपको क्या है ?'' इस पर वह राज्याधिकारी कहता है कि–यह शरीर आप का नहीं है, राष्ट्र का है। आप इसे ऐसे मार नहीं सकते, समाप्त नहीं कर सकते। यदि आप ऐसा करेंगे तो आप को आत्महत्या के अपराध में बन्दी बना लिया जाएगा। अब यदि वह नहीं मानता तो वह राजा उस को कारागार में रख कर उस को पूर्णतया रक्षा करता है। अब यदि वह राजा ही वैसा करता है तो फिर राजाओं का राजा भगवान् भी वेदोपदेश द्वारा वा भीतर से प्रेरणा द्वारा उस को रोकता है। पर अगर वह नहीं मानता तो फिर प्रभु ही इस आत्महत्या के अपराध में उस को दण्ड देता है। इस प्रकार जिस भी व्यक्ति में उसको समझाने–बुझाने वा सप्रेरणा देने की भावना उत्पन्न होती है तो वह उसका स्वामी है, और जितना अधिक वह इस विषय में बढ़ा हुआ है, उतना ही अधिक बढ़ा हुआ वह उसका स्वामी है, मालिक है। इस राष्ट्र के भी वे ही सच्चे स्वामी और नेता समझे जाते हैं। जिनको इसके एक–एक पदार्थ और एक–एक व्यक्ति के प्रति प्रेम होता है तो वे ही उनकी रक्षा–सुरक्षा के लिये सदा सजग रहते हैं। ऐसे इस संसार के सब पदार्थों का सदुपयोग करने के लिये अब चूकि

वेदोपदेश द्वारा वा सत्प्रेरणा द्वारा सब से बढ़–चढ़ कर प्रभु ही कार्य करता है। अतः यह सब धन–वैभव, यह सब गाय, भैंस, बकरी आदि उसी का ही वैभव है। इसलिये जब भी कोई इनको सताता है अर्थात् इनको दुःख–पीड़ा पहुँचाता है तो वह इसको भय–शङ्का–लज्जा द्वारा ऐसा करने से रोकता है। और यदि वह इस सब धन–वैभव का सदुपयोग करता है वा सब को देता है तो वह उसको आनन्द, उत्साह और निर्भयता प्राप्त कराता है। वह सब को जग के नानाविध उदाहरणों से भी भाता रहता है कि कोई इस सब का दुरुपयोग न करे। पर फिर भी यदि कोई मानता नहीं और इस तन–मन–धन आदि का दुरुपयोग करता है तो वह फिर दण्ड भी देता है। जैसे आँखों का दुरुपयोग करने पर आँखों से वञ्चित करता है, हाथ–पैरों के दुरुपयोग पर हाथ–पैरों से वञ्चित कर देता है, श्रोत्रों के दुरुपयोग करने से बहिरा कर देता है...। इस प्रकार जो मन में गन्दे विचार भरता है तो उस को भी निकृष्ट मन वाला बनाकर स्थान–स्थान पर निन्दा और घृणा का पात्र बना देता है आदि आदि...। इस प्रकार जिसको इस सब धन–वैभव के प्रति दर्द है और जो सदा इसके सदुपयोग पर बल देता रहता है जैसे राजनीतिक नेता विद्वान्, तपस्वी, संन्यासी आदि। तभी तो वह दिन–रात इन राष्ट्रवासियों का सुधार करने के लिये नानाविध योजनाएँ बनाता रहता है, नानाविध पत्र–पत्रिकाएँ निकालता रहता है, नाना प्रकार की सुधार और उपचार की पुस्तकें लिखता रहता है। उसका यह सब धन–वैभव आदि–आदि भी सदा शुभ कर्मों में ही लगता है और इन सब में भी सबसे आगे बढ़कर वह प्रभु है। इन सब में भी जो अन्तिम है, स्थायी है निश्चल है, वह प्रभु ही है। अतः यह सब कुछ उस प्रजापति परमेश्वर का ही है, उस सुखस्वरूप प्रभु का ही है, उस सब जगत् के सब पदार्थों के सदुपयोग करने का जो सदा सर्वत्र उपदेश देता रहता है उस प्रभु का ही है। अतः हमें चाहिये कि हम उसी के ही वेदोपदेश के अनुसार उसी की सत्प्रेरणानुसार इस अपने तन–मन–धन को सब को सुख देने में लगाए, तभी हम सब प्रजापतियों राजाओं के साथ–साथ उस प्रभु के भी स्नेह और संरक्षण के, प्यार और आशीर्वाद के पात्र बन सकेंगे।

पञ्चम रश्मि

मा गृधः कस्य स्विद्धनम्। –यजुः० ४०.१

अन्वयार्थ–हे मानव! (मा गृधः, धनं कस्य स्वित्) तू लोभ न कर, लालच न कर, वरन् यह धन किस का है? यह सोच, यह विचार। यह सोच–विचार करने पर तुझे ज्ञात होगा कि यह न आज तक किसी का हुआ, न किसी का है और न ही किसी का होगा।

वेद कहता है–हे मानव! तू उस प्यारे परमेश्वर को क्षण–क्षण और कण–कण में सर्वदा सर्वत्र व्यापक समझ कर जो भी कुछ तुझ को उससे अपने कर्मानुसार प्राप्त होवे उसका सन्तोष पूर्वक ही नहीं वरन् त्यागपूर्वक भी उपभोग कर, दानपूर्वक ही सेवन कर। अपने कर्मानुसार जो भी प्रभु तुझे धन–वैभव स्त्री–पुत्र, पद–प्रतिष्ठा आदि प्रदान करे उसी पर ही तू सदा हृदय से सन्तुष्ट प्रसन्न रहता हुआ प्रभु का धन्यवाद कर। तू किसी के भी धन–वैभव की, सुख–सौभाग्य की पद–प्रतिष्ठा की लालसा न कर। क्योंकि जब तू अपने कर्मों के आधार पर प्राप्त हुए–हुए धन–वैभव आदि पर सन्तोष नहीं करेगा और दूसरे के धन–धान्य, पद–प्रतिष्ठा आदि को ही लालसा की दृष्टि से देखता रहेगा तो ऐसी अवस्था में तू प्रभु के न्याय–नियमानुसार उपलब्ध हुए–हुए धन–धान्य आदि का भी सम्यक् उपभोग करके सुख नहीं पा सकेगा, और पराया जो धन–वैभव, पुत्र–कलत्र, मान–सम्मान आदि है, जिस पर कि तेरी दृष्टि गड़ी हुई है, वह तुझे प्राप्त ही नहीं हो सकेगा। क्योंकि वह सब कुछ उस दूसरे व्यक्ति के कर्मों के आधार पर ही उसे मिला हुआ है। फिर ऐसी दृष्टि रखने पर, ऐसी वृत्ति रखने पर जहाँ तुम्हारे मन में भी ईर्ष्या–डाह की अग्नि सुलगने लगेगी वहाँ तुम उस व्यक्ति की दृष्टि में भी गिर जाओगे। तुम्हारी वृत्ति तब सदा बिगड़ी ही रहेगी। और वृत्ति के बिगड़ी रहने पर फिर तुम्हारी आकृति भी सदा बिगड़ी रहेगी। वृत्ति और आकृति के सदा बिगड़ी रहने पर फिर तुम्हारी प्रकृति और प्रवृत्ति भी सदा बिगड़ी रहेगी, तुम्हारा स्वभाव

और व्यवहार भी सदा बिगड़ा हुआ रहेगा। तब तुम सब को दृष्टि में शनैः–शनैः गिर जाओगे और धीरे–धीरे घृणा–नफरत के भी पात्र बन जाओगे। तब तुम किसी अन्य के धन–धान्य को देखकर, सुख–सौभाग्य को देखकर, मान–सम्मान को देखकर, पद–प्रतिष्ठा को देखकर कभी खिल नहीं सकोगे, कभी खुश नहीं हो सकोगे, कभी प्रसन्न नहीं हो सकोगे। सच्ची बात तो यह है कि तब तुम्हारी सूरत सड़ी–गली–सी रहेगी, तुम्हारी शक्ल के पीछे जो अक्ल होगी उस पर भी तब ताले से पड़ जायेंगे। तुम भी तब कभी–कभी यह सोचोगे कि–'यह सब क्या हो रहा है, यह मैं बिना आग के कैसा जला जा रहा हूँ, यह सब कुछ खाते–पीते हुए भी मैं सदा कुम्हलाया–सा क्यों रह रहा हूँ। पर यह सब कुछ सोचते हुए भी तब तुम्हें कुछ राह नहीं दिखाई देगी...।' तब तुम वास्तव में तो अपने लिये वह सब कुछ अर्जित तो कर नहीं सकोगे, और उल्टा अगले के अर्जित उस धन–धान्य पर जलते–भुनते हुए अपने जीवन की अमूल्य घड़ियों को व्यर्थ गँवाते रहोगे। यह सब करने के स्थान पर यदि तुम उन जैसा कुछ पुरुषार्थ करोगे तो सम्भवतः तुम उन से भी आगे बढ़ सकोगे। पर ईर्ष्या और डाह के कारण अपने भविष्य को उज्वल बनाने के लिये तब सम्भवतः तुम से पुरुषार्थ ही नहीं हो सकेगा वरन् तुम तो और भी दूसरों के धन–धान्य, सुख–सौभाग्य, पद–प्रतिष्ठा आदि को नष्ट करने के लिये दौड़–धूप करोगे। अतः वेद का आदेश है, वेद का उपदेश है, प्यारे प्रभु का सन्देश है कि–''हे मानव! (मा गृधः) तू लोभ न कर, लालच न कर, तू किसी के धन–वैभव, सुख–सम्पत्ति की लालसा मत कर। क्योंकि तू विचार कर ''धनं कस्य स्वित् ?'' यह धन आखिर किस का है ?'' अर्थात् किसी का भी नहीं है, तो फिर तू क्यों इस के लिये इतना पागल होता है ? फिर वेद के आधार पर तुझे अपने कर्मों के अनुसार उपलब्ध हुए–हुए अपने ही धन–वैभव का भी जब सन्तोष पूर्वक ही नहीं, वरन् त्याग पूर्वक उपभोग करने का आदेश है, दान पूर्वक सेवन करने का उपदेश है, तो फिर इस प्रकार दूसरे के धन–धान्य पर दृष्टि गड़ाए रखना कहाँ तक संगत है ? और जो तेरे पास भी धन–सम्पत्ति है उस का भी जब तू सदा के लिए स्वामी नहीं

बन सकता, सदा के लिये मालिक नहीं बन सकता, अर्थात् उस सब धन–वैभव ने, सुख–सौभाग्य ने, मान–सम्मान ने भी जब सदा तेरे पास विद्यमान नहीं रहना, उसने भी एक दिन जब तेरे से विदा हो जाना है, जैसे कि प्रातः होते ही ये तारे विदा हो जाते हैं, तो फिर तू अन्य के इस धन–धान्य पर, स्त्री–पुत्र पर, पद–प्रतिष्ठा पर, मान–सम्मान पर व्यर्थ लोभ की दृष्टि गड़ा कर क्यों अपने आप को खराब करता है। तुझे चाहिये कि वेद के कथनानुसार ''तू लोभ न कर, लालच न कर'' इस सदुपदेश को हृदयङ्गम करे और इसी के अनुसार ही अपना जीवन बिता। और फिर तू लोभ भी करता है, लालच भी करता है तो आखिर किस लिये करता है ? क्योंकि जिस धन–वैभव आदि के लिये तू इतना लोभ करता है, इतनी लालसा करता है वह धन–वैभव तो आज तक न किसी का हुआ है न किसी का है, और न ही किसी का रहेगा। यदि यह धन–वैभव किसी का सदा के लिये नहीं हो सकता है तो फिर तू इस का लोभ क्यों करता है ? भगवान् श्रीकृष्ण ने भी गीता में इस लोभ को नरक का द्वार बताया है। यह अनेकों पापों का, अपराधों का मूल है। यह पतन का कारण है। अतः शास्त्रों ने मनुष्यों को इससे सदा सतर्क किया है, सावधान किया है। क्योंकि एक बार जब यह मनुष्य इस लोभ के चक्कर में आ जाता है तो फिर इस मनुष्य का इस से छुटी पाना सरल नहीं होता। इस संसार के धन–वैभव को, स्त्री–पुत्र को जमीन–जायदाद को कितना भी प्यार से क्यों न अपनाए रखो, कितना भी प्यार से क्यों न हृदय में संजोए रखो, पर फिर भी एक दिन इस ने चला ही जाना है। इस धरती पर कितने ही महाराजे आ चुके, इन सब भोग पदार्थों को प्राप्त करने के लिये नानाविध संघर्षों को कर चुके हैं और फिर सदा सजग–सावधान रहकर इस पर साँप की तरह भी बैठ चुके वा इसे सदा छाती से भी लगाए रख चुके, पर यह सब धन–वैभव आदि उन का भी नहीं हुआ।

इसी भारत वर्ष पर महमूद गजनवी ने लोभ–लालच से अभिभूत होकर सत्रह बार आक्रमण किया और अन्त में यहाँ से खूब धन–माल ले गया, पर अन्त में वह भी जब इस दुनिया से गया तो खाली हाथ ही गया। उनके सम्बन्ध में एक गाथा

प्रसिद्ध है। वह यह है कि उनकी मृत्यु के कई वर्षों के उपरान्त खुरासान देश के एक बादशाह ने उन्हें स्वप्न में देखा कि उसका सारा का सारा शरीर गल कर मिट्टी में मिल गया है, परन्तु फिर भी वह आँखे फाड़े हुए अभी तक भी चारों ओर देख रहा है। उस व्यक्ति ने अपना यह स्वप्न किसी एक सन्त को सुनाया और पूछा कि इसका क्या मतलब है ? तो उस महात्मा ने उत्तर दिया कि महमूद की आँखे बड़े दुःख के साथ यह देख रही हैं कि उसके जीते हुए सब देश अब दूसरों के हाथों में चले जा रहे हैं। धन सचमुच किसी का साथ नहीं देता।

महान् सम्राट् सिकन्दर को ही देख लीजिये, इसी लोभ के कारण उसने अपना जीवन धन–वैभव के संग्रह में लगा दिया पर जब उसका अन्त समय आया तो वह भी बड़ा पश्चात्ताप करता हुआ कहता है कि–'हा! मैंने अपना सारा जीवन जिस सम्पत्ति के संग्रह में लगा दिया, आज उस अपार धन–सम्पत्ति में से एक कानी–कौड़ी भी मेरे साथ नहीं जा रही है। खैर, मेरा जीवन तो इसके पीछे नष्ट हुआ, सो हुआ, पर मेरी इस घटना से संसार के लोगों को कुछ शिक्षा मिल सके और वे इसके लिये अपने अमूल्य जीवन को वर्बाद करने से बच सकें, इसलिये मेरे इस पार्थिव शरीर को, शव को जब दफनाने के लिये ले जाया जाए तो मेरे दोनों हाथ कफन से बाहिर खाली हथेली निकाल कर ले जाया जाए। ऐसा करने पर सचमुच संसार के लोगों का पता लग सकेगा कि–''सिकन्दर जब गया दुनिया से दोनों हाथ खाली थे।'' स्वामी ब्रह्ममुनि जी ने सिकन्दर महान् के इन भावों को यों पद्यबद्ध किया है–

छोड़ दुर्ग रण कोष सभी कुछ रिक्त हस्त है जाता।
चला सिकन्दर कफन से वाहिर दोनों हाथ दिखाता॥

सिकन्दर महान् की मृत्यु पर उसकी माता ने भी बड़े दर्द भरे शब्दों में यह कहा था–

ऐ सिकन्दर न रही तेरी आलमगीरी।
कितने दिन आप जिया और किस लिये दारा मारा॥

अर्थात् हे सम्राट् सिकन्दर! तेरी विश्व विजय का शीघ्र ही अन्त हो गया। कितने दिन तू संसार में जीवित रहा और किस

लक्ष्य के लिये ? राज्य के लोभवश 'दारा' राजा को मारा।

राजा भोज के चाचा मुञ्ज ने भी जब राज्य के लोभ में आकर बालक भोज को गुरुकुल से बुलवा कर मौत के घाट उतारने के लिये जब वन भिजवाया था तो उस समय बालक भोज ने अपने चाचा मुञ्ज को अपने रक्त से इसी अभिप्राय को अभिव्यक्त करने वाला एक सन्देश भेजा था। वह यह है कि–

मान्धाता क्व महीपतिः कृतयुगालंकारभूतो गतः।
सेतुर्येन महोदधौ विरचितः क्वासौ दशास्यान्तकः॥
अन्ये चापि युधिष्ठरप्रभृतयो याता दिवं भूपते।
नैकेनापि समं गता वसुमती नूनं त्वया यास्यति॥

–भोज प्रबन्ध ३८

हे राजन्! सतयुग का अत्यन्त प्रसिद्ध राजा मान्धाता आज कहाँ चला गया ? जिस दशरथ नन्दन राम ने समुद्र पर पुल बाँधा था और रावण का वध किया था, वह राम आज कहाँ है ? अन्य भी अनेकों युधिष्ठर आदि बहुत से राजा इस पृथिवी पर राज्य करके विदा हो चुके हैं। पर यह धन–धान्य से सम्पन्न भूमि किसी के साथ भी नहीं गई। परन्तु हे मुञ्ज! ऐसा लगता है कि तुम्हारे साथ यह जरूर जायेगी, तभी तो तू इस के लोभ में अन्धा हुआ–हुआ यह सब कुछ कर रहा है।

सारांश यह है कि मानव यह विचार करे, मानव यह सोचे–समझे कि उसे कभी भी इस धन के लोभ–लालच में नहीं पड़ना चाहिए। क्योंकि यह सब धन–वैभव सदा सर्वदा किसी के साथ नहीं जाता। कई बार तो यह धन–वैभव जीवन काल में ही इस मनुष्य से चला जाता है। अतः इस पर कभी भी अभिमान नहीं करना चाहिए। और यदि यह जीवन भर भी हमारे पास रहे तो भी आखिर यह हम से रह ही जाता है। यह धन–वैभव जो कभी हमारे दादा जी के पास था, वह दादा जी को छोड़कर पिता जी के पास आ गया, पिता जी के पास भी यह टिका नहीं रहा, अतः यह मेरे पास सरक आया। अब जो धन–वैभव, जो जमीन–जायदाद, जो पदार्थ समूह दादा जी और पिताजी के पास नहीं रहा उसके बारे में यह कैसे कहा जा सकता है कि वह सदा मेरे पास ही टिका रहेगा! अब जब मेरे ही धन–वैभव,

स्त्री–पुत्र, मान–सम्मान की ही ऐसी अवस्था है कि न जाने कब यह मुझे छोड़कर चला जाए तो फिर अन्य के धन–वैभव की लालसा करने का क्या औचित्य रहेगा ?

इस प्रकार मन्त्र के आधार पर यह उचित है कि इस संसार में सर्वदा सर्वत्र विराजमान रहने वाले प्रभु को व्यापक समझ कर उसको ही सब धन–वैभव का स्वामी समझा जाये। हाँ जो भी उस के विधान के अनुसार अपने कर्मों के आधार पर हमें मिले उसी का ही हम सन्तोषपूर्वक ही नहीं वरन् त्यागपूर्वक उपभोग करे वा उसी का ही हम दानपूर्वक उपभोग करें, उसी का ही हम पञ्चमहायज्ञ पूर्वक सेवन करें। भूलकर भी दूसरों को जो उनके कर्मों के आधार पर उपलब्ध हो, उसकी मन से भी कभी हम लालसा न करें। क्योंकि उस सब की लालसा के परिणामस्वरूप एक तो हम जहाँ अपने कर्मों के आधार पर उपलब्ध हुए धन–वैभव का सुख नहीं भोग सकते, दूसरा हम दूसरे के धन–वैभव को लोभ से देखते हैं तो फिर हममें ईर्ष्या–डाह भी उत्पन्न होती है। और अगर हम इस राह पर और आगे बढ़ते हैं तो फिर हम लूट–पाट, चोरी–डाके आदि भी डाल सकते हैं। इतने पर भी हम वास्तव में वही भोग सकेंगे जो हमारे कर्मों के आधार पर हमें प्राप्त हुआ–हुआ होगा। इतने पर भी लोभ में आकर पाप करके भले ही हम उस धन–वैभव को पा लेवें पर तो भी ऐसा धन–वैभव तो फिर कष्ट और आपत्तियों का ही हमें शिकार बना देगा। और फिर जब वह हम से पुनः छीना जायेगा या संसार में रहेगा तो कष्ट भी भारी ही होगा। हमें इस वेद वचन के आधार पर जहाँ अन्य के धन–धान्य का लोभ नहीं करना चाहिये, वहाँ अपने पास विद्यमान धन–वैभव का भी स्वामी मालिक नहीं बनना चाहिये, वरन् उस में अपना पञ्चमहायज्ञ पूर्वक, दानपूर्वक सेवन अधिकार समझ कर ही उसका सेवन करना चाहिये। ऐसा करके जहाँ हम इस लोक में सुख पायेंगे वहाँ मोक्ष में भी आनन्द पायेंगे।

(४)
वैदिक रश्मियाँ
चतुर्थ भाग

प्रथम रश्मि

सहृदयं सांम्मनस्यं कृणोमि वः। –अथर्व० ३.३०.१

मैं तुम्हें सहृदय युक्त, साम्मनस्य युक्त करता हूँ।

संक्षिप्त अन्वयार्थ–[अहम्] **(वः सहृदयं सामनस्यं कृणोमि)** मैं तुम सब को सहृदय और साम्मनस्य वाला बनाता हूँ।

परम पिता परमेश्वर गृहस्थ परिवार, समाज, राष्ट्र वा संसार में रहने वाले हम मनुष्यों को सहृदय युक्त और साम्मनस्ययुक्त करना चाहता है। यही कारण है कि जिस की वजह से वह हमें वेद में यह उपदेश देता है कि हे घर–परिवार, समाज, राष्ट्र, देश वा संसार में रहने वाले मनुष्यो! मैं तुम सब को सहृदय वाला, साम्मनस्य वाला बनाना चाहता हूँ। अर्थात् मैं चाहता हूँ कि तुम सब में परस्पर सहृदयता रहे, सामनस्य रहे। क्योंकि सहृदयता और साम्मनस्य पूर्वक तुम रहोगे तो तभी तुम परस्पर सुख–शान्ति और आनन्द से अपना जीवन व्यतीत कर सकोगे।

परमेश्वर चाहता है कि घर–परिवार वा राष्ट्रादि में हम सब मनुष्यों में सहृदयता रहे, साम्मनस्य रहे। जैसा वह चाहता है वैसा ही वह वेद द्वारा उपदेश देता है और वैसा ही वह हम सब को भीतर से प्रेरणा भी करता है।

अब यह सहृदयता क्या है, साम्मनस्य क्या है ? सहृदयता है–समान हृदयता। यदि परिवार वा समाज में एक व्यक्ति दुःखी है, कष्ट में है वा सुखी है, प्रसन्न है तो उस व्यक्ति के दुःख में, कष्ट में अगर दूसरा व्यक्ति भी दुःखी है, कष्ट में है या उस व्यक्ति के सुख में दूसरा व्यक्ति भी सुखी है, प्रसन्न है, तो इसी का नाम सहृदयता है।

सचमुच ऐसी सहृदयता जब घर–परिवार, समाज वा राष्ट्र आदि में घर कर जाती है तो फिर दुःखियों का दुःख हलका हो जाता है, उनका दुःख घर–परिवार वा समाज के सदस्यों की हार्दिक सहानुभूति से फिर भारी नहीं रहता। और अगर घर–

परिवार का एक सदस्य प्रसन्न हो जाता है, तो अन्य भी उसकी प्रसन्नता में प्रसन्नता अनुभव करते हैं, उस की खुशी में फूले नहीं समाते। इस सहृदयता के कारण वे सब परस्पर घनिष्टता पूर्वक जुड़े रहते हैं। जैसे किसी की चोरी हो जाती है, किसी का कुछ गुम हो जाता है, कुछ खो जाता है, कुछ नुकसान हो जाता है, किसी को चोट लग जाती है, किसी को बुखार हो जाता है, किसी के पेट में पीड़ा हो जाती है, या किसी को कोई रोग–कष्ट, आपत्ति–विपत्ति आ घेरती है, तो तब वह हैरान–परेशान हो जाता है, और कई बार वह इतना दुःखी हो जाता है कि सब के सम्मुख अपने आप को वह हीन समझने लगता है। सब परिवार के लोग भी सेवा कर–कर के परेशान हो जाते हैं, तब उसको देखने के लिए अपनी एक बड़ी बहिन आती है। भाई की दीन–हीन दशा को देखकर उसके दुःख में दुःखी होकर उसके हृदय में स्नेह–सहानुभूति का स्रोत बहने लगता है। उसके उन स्नेह सहानुभूति और प्यार भरे शब्दों से उसको जो सांत्वना मिलती है, इसका उसके स्वास्थ्य और मन पर जो प्रभाव पड़ता है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। जब बहिन ने अपने घर वापिस जाने का नाम लिया तो उस भाई का दिल भर आया। तब उसकी पत्नी ने उस बहिन जी से कहा कि–"देखो बहिन जी, जब से आप आई हैं और इन के समीप बैठती–उठती वा बातचीत करती हैं, तो इनको अपना दुःख भूला–सा रहता है। समय पर नींद भी आती है। और यह ऐसा अनुभव करते हैं कि जैसे इनका दुःख आधा रह गया हो। आप कुछ समय और ठहर जायें तो हमें यह विश्वास है कि यह बहुत जल्दी ठीक हो जायेंगे।"

सचमुच बहिन उसके दुःख में दुःखी होकर स्नेह–प्रेम और सहानुभूति से जब उन्हें दवा देती थी और कहती थी कि–"भइया, मुझे विश्वास है कि इस दवा से तुम्हें जल्दी ही आराम आ जायेगा।" तो सचमुच उस दवा में उसकी दुआ भी मिलकर भाई पर जादू का–सा असर करती थी। अन्त में वह ठीक–ठाक हो गया। पर अपनी बहिन की उस सहृदयता प्रेम–सहानुभूति के लिये आज भी वह बड़ी कृतज्ञता अनुभव करता है।

एक बेटी स्कूल में पढ़ती है, उसने क्या देखा कि उसकी

क्लास की एक लड़की के पास पुस्तक नहीं है। उसको अपनी अँध्यापिका भी बहुत डाँटती है। पर गरीबी के कारण चाहती हुई भी वह पुस्तक खरीद नहीं पाती। उसकी इस स्थिति को उसकी क्लास की एक बच्ची भाँप गई और उसने अपने पिता से कहा–''पिताजी, हमारी कक्षा में एक लड़की है जो बहुत योग्य है, पर गरीब बहुत है। पुस्तक आदि खरीद नहीं सकती और उसके अभाव में वह बड़ी दुःखी रहती है। पिताजी, क्या आप उसे वह पुस्तक ला देंगे?'' बेटी वह पुस्तक कितने की आती है? ''पिताजी! ६ रुपये ५० पैसे की, पिताजी बोले, यह लो बेटी ६ रुपये ५० पैसे। उसे यह पुस्तक लेकर दे देना।'' उस बेटी ने उसको वह पुस्तक लेकर देदी। इस पर वह बच्ची बड़ी प्रसन्न हुई और रोम–रोम से उस लड़की के प्रति कृतज्ञता अनुभव की और धन्यवाद भी दिया।

राम के सम्मुख जब सुग्रीव ने अपनी व्यथा सुनाई तो राम सहृदयता के वशीभूत होकर उसके दुःख को अपना दुःख अनुभव करने लगे। इसी सहृदयता के कारण राम ने बाली को मार कर सुग्रीव को उनकी पत्नी और राज्य दिलाया।

कन्या गुरुकुल नरेला में एक बेटी को जब पता लगा कि मेरी क्लास की एक कन्या सतत पढ़ना चाहती है, पर उसका पिता उसका खर्च आदि वहन नहीं कर सकता। अपनी सखी के इस दुःख को जानकर उससे रहा नहीं गया, तो उसने अपने पिता से यह सब कुछ सुनाया और कहा कि–''पिताजी! क्या आप मेरी तरह उसको अपनी बेटी मान कर उसका खर्च वहन कर सकेंगे?'' बेटी की, सहेली के प्रति उस सहृदयता, स्नेह एवं सहानुभूति पूर्ण बात को सुनकर उसके पिता ने झट कह दिया ''बेटी! सचमुच यदि उसकी यह स्थिति है तो मैं आगे से जो भी खर्चा तेरे लिये भेजूँगा, वही तेरी सहेली के लिए भी भेज दिया करूँगा।'' इसके बाद वर्षों तक वह सज्जन अपनी पुत्री के साथ–साथ उसका भी व्यय भेजता रहा।

सहृदयता वस्तुतः वह चीज है जो मनुष्य को दूसरे के दुःख में दुःखी, दूसरे के कष्ट में कष्टमय, दूसरे के अभाव में अभावमय बना देती हैं। इसके परिणामस्वरूप फिर मनुष्य में

उस व्यक्ति के प्रति स्नेह–सहानुभूति उत्पन्न होती है। फिर जैसे वह अपने दुःख को दूर करने का प्रयास करता है वैसे ही वह दूसरे के दुःख को भी दूर करने का प्रयास करता है, जैसे वह अपने कष्ट–क्लेश से अपने को मुक्त करने का प्रयास करता है, वैसे ही वह दूसरे के कष्ट व क्लेश को भी अपना कष्ट–क्लेश मानकर उस से उसको मुक्त करने का प्रयास करता है, जैसे वह अपने अभाव को दूर करने के लिए दौड़–धूप करता है, वैसे ही वह दूसरे के अभाव को भी दूर करने के लिये पुरुषार्थ करता है।

जिस घर में, जिस परिवार में, जिस समाज में परस्पर सहृदयता वर्त्तमान रहती है, वहाँ फिर दूसरों को प्रसन्न देखकर, दूसरों को उन्नत–समुन्नत देखकर, दूसरों को धन–वैभव से बढ़ता हुआ देखकर, दूसरों को सुप्रतिष्ठित देखकर, दूसरों को हरा–भरा देखकर, मनुष्यों में ईर्ष्या, द्वेष, जलन, कुढ़न आदि नहीं होती वरन् वे तो जब उन्हें बढ़ता हुआ, समुन्नत होता हुआ, धन–वैभव से सम्पन्न होता हुआ, हरा–भरा, नाचता–गाता हुआ, देखते हैं तो उन्हें ऐसा लगता है कि जैसे वे स्वयं ही बढ़ रहे हों, जैसे वे स्वयं ही उन्नत–समुन्नत हो रहे हों, जैसे वे स्वयं ही धन–वैभव से सम्पन्न हो रहे हों, हर प्रकार से हरे–भरे हो रहे हों। तभी तो वे उनकी खुशी को अपनी खुशी मानकर नाचते–गाते और खुश होते रहते हैं।

सच कहा जाय तो सहृदयता घर–परिवार, समाज का वह गुण है कि जिस से घर–परिवार, समाज में वर्त्तमान रहने पर कितना भी कोई यत्न क्यों न करे, उस घर–परिवार, समाज के सदस्यों को आपस में पृथक् नहीं कर सकता। पर अगर घर–परिवार और समाज में यह सहृदयता न रहे तो फिर कोई उनको परस्पर जोड़ भी नहीं सकता। इसी के कारण ही तो मनुष्यों में, परस्पर स्नेह–सहानुभूति उत्पन्न होती है, और फिर वे एक–दूसरे के काम आते हैं, एक–दूसरे का सहयोग करते हैं। यह परस्पर का स्नेह–प्रेम ही उन्हें एक–दूसरे से जोड़ कर रखता है, एक–दूसरे से आवद्ध किये रखता है। यही उपर्युक्त वेद–मन्त्र का आशय है, और यही प्यारे प्रभु का अभिप्राय है।

केवल यह नहीं कि प्रभु केवल हम में सहृदयता ही भरना चाहता है, वह तो इससे आगे बढ़कर हम में साम्मनस्य भी भरना चाहता है, समान मनस्कता भी भरना चाहता है, ताकि हमारे घर–परिवार और समाज में परस्पर एक–दूसरे के प्रति किया हुआ चिन्तन ज्ञान पूर्वक हो, बुद्धिपूर्वक हो विवेकपूर्वक हो।

इस प्रकार प्रभु प्रदत्त वेदोपदेश द्वारा वा प्रभु प्यारे की भीतर से दी हुई प्रेरणा के द्वारा जब हमारे हृदय में दूसरों के प्रति सहृदयता होगी तो फिर हम में उनके लिए साम्मनस्य–समान मनस्कता भी होगी। अर्थात् हम दूसरों के लिये सम्यक् प्रकार से सोच सकेंगे–ठीक प्रकार से विचार कर सकेंगे। अब जब हम वा दूसरे सहृदयता के कारण जब परस्पर एक–दूसरे के प्रति सम्यक् प्रकार से ठीक प्रकार से या एकत्व की भावना से ज्ञानपूर्वक–विवेकपूर्वक सोच–विचार सकेंगे तो फिर निःसन्देह वे एक–दूसरे के प्रति अच्छा से अच्छा, बढ़िया से बढ़िया, उत्तम से उत्तम व्यवहार भी कर सकेंगे।

प्रभु कृपा से घर–परिवार के मनुष्यों में जब सहृदयता होती है तो फिर वे एक–दूसरे के दुःख–सुख को अपना ही दुःख–सुख समझ कर सब कार्य करने लगते हैं। इस प्रकार फिर वह घर–परिवार वा समाज बड़ा ही सुखी रहता है। यहाँ तक कि दुःख के दिन भी फिर उनके सहज रूप से ही व्यतीत हो जाते हैं।

घर में पत्नी बीमार होती है तो पति सहृदयता के कारण उसके कष्ट को अपना कष्ट मान लेता है। उसके कष्ट को अपना कष्ट मानने पर फिर उसमें साम्मनस्य–समान मनस्कता पैदा होती है। तब वह अपनी नारी के समान ही उसका कष्ट दूर करना चाहता है। इसलिये वह इसके लिये दौड़–धूप करता है, दवा–दारु करता है, मौसमी, अंगूर आदि फल लाता है, खान–पान की हल्की–फुलकी वस्तु लाता है, जिससे कि उसकी पत्नी शीघ्र ही पुनः पूर्ववत् स्वस्थ होकर अपने घर–परिवार को सम्भाल कर प्रसन्न रह सके। नारी भी जब पति के कष्ट को देखती है, और सोचती है कि वह उसके मायके चले जाने पर या रुग्ण हो जाने पर स्वयं दाल–रोटी आदि बनाता है, या दुग्ध

आदि गर्म करके पी लेता है, या फिर कभी आलस्य वश बिना कुछ बनाए और खाये, पिये ही अपने कार्य पर चला जाता है, या सो जाता है, तो फिर उसको नारी बहुत अनुभव करती है। फिर वह शीघ्रतिशीघ्र ही मायके से पति के आदि की सेवार्थ भागी चली आती है। और अगर वह स्वयं ही रोगग्रस्त हो जाती है तो फिर वह शीघ्रातिशीघ्र ओषधादि लेकर, अनुकूल पदार्थों का सेवन करती हुई प्रभु से प्रार्थना करती है कि प्रभु उसे शीघ्र ठीक करे, स्वस्थ करे, ताकि वह अपने पति, पुत्रों एवं आये–गये की जी–जान से सेवा–शुश्रूषा आदि कर सके और अपने घर–परिवार को सुखी बना सके।

माँ–बाप अपने बच्चों की आवश्यकताओं को जब सहृदयतावश देखते हैं वा उनकी इच्छाओं–कामनाओं को देखते हैं, तो तब उनमें साम्मनस्य पैदा होता है, उनके समान सोचना–विचारना और चाहना आरम्भ हो जाता है, तभी तो फिर वे तुरन्त उन बच्चों की आवश्यकताओं की, उनकी इच्छाओं की पूर्त्ति के लिये अपनी आवश्यकताओं तथा इच्छाओं को गौण कर देते हैं। उस समय बच्चों की इच्छाओं और आवश्यकताओं के पूर्ण होने पर बच्चों को जो प्रसन्नता, जो खुशी होती है, उसे देखकर उनके माँ–बाप को उनसे भी बढ़कर प्रसन्नता होती है।

एक बच्चा नवीं कक्षा में आया। स्कूल दूर था। पुत्र ने अपने माँ–बाप से कहा कि–"पिताजी! आप मुझे साईकिल ला दो, क्योंकि स्कूल इतना दूर है कि बहुत–सा समय तो मेरा आने–जाने में ही लग जाता है।" या फिर यों ही बच्चे की साईकिल लेने की इच्छा हुई और उसने अपने माता–पिता से साईकिल की इच्छा अभिव्यक्त की। इस पर माता–पिता में सहृदयता भी तो थी ही, प्रभु कृपा से धन–वैभव की भी कमी नहीं थी, या थी भी तो सहृदयता वश अन्य खर्चों में कटौती भी करने को तैयार हो गये। इस पर दोनों के हृदय में साम्मनस्य पैदा हुआ। वे बच्चे के मन से अपने मन को एक करके उन्हीं के समान साईकिल की आवश्यकता अनुभव करने लगे वा उसकी इच्छा को अपनी इच्छा मानने लगे, तभी वे साईकिल लेने पहुँच गये। आफिस बहुत दूर है, पैदल जाया नहीं जा सकता, थ्रीव्हीलर वा टैक्सी में जाया जाये तो १५ दिवस में ही सारा वेतन समाप्त हो जाए।

आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं है कि स्कूटर खरीदा जा सके। पत्नी ने पति के इस कष्ट को सहृदयतावश अनुभव किया और अपने पति की इस जरूरत को, आवश्यकता को तहे दिल से समझा, तब साम्मनस्य के कारण उसमें स्नेह–सहानुभूति और तदनुसार उपाय करने की वृत्ति–प्रवृत्ति पैदा हुई, तो तब उसे एक दिन यह सूझ आई कि मैं इन चूड़ियों को पहन कर क्या करूँगी जबकि पति को इतना कष्ट है ? सुहाग का चिह्न चूड़ियाँ हैं, तो वे तो काँच की भी पहनी जा सकती हैं, जो दो–चार रुपये की आ जायेंगी। बस, फिर क्या था उन्हें बेच दिया और पति को स्कूटर ले दिया। पति ने कहा–''देवी, यह तूने क्या किया ?'' पत्नी बोली–''पति देव! मेरा आभूषण तो आप हैं। मैं आप से अलंकृत हूँ, इन चूड़ियों से नहीं, हाँ, सुहाग का चिह्न हैं यदि वे चूड़ियाँ तो काँच की चूड़ियाँ पहनकर भी गुजारा किया जा सकता है। अतः आप अनुभव न करें, वे तो मैं ले आई हूँ...।'' पति ने पत्नी के इस दिव्य त्याग को देखा, तो उनका रोम–रोम खिल गया और उसने उसे हृदय से साधुवाद दिया। सचमुच जहाँ सहृदयता होती है, वहाँ साम्मनस्य होता है, और जहाँ साम्मनस्य होता है वहाँ घर–परिवार के सब सदस्य किसी वस्तु के अभाव में भी दिव्य त्याग और तपोमयी भावनाओं एवं व्यवहारों के कारण ही सदा बड़े सुखी और प्रसन्न रहते हैं।

हम नारी को देखते हैं जब वह पति लोक में आती है, तो उसके हृदय में पति के लिये सहृदयता होती है। सहृदयतावश वह ज्यों–ज्यों पति की भावनाओं को, इच्छाओं को, रुचियों को जानती जाती है, त्यों–त्यों ही वह उसके समान मन वाली होकर वैसा ही वह सोचने लगता है, वैसा ही वह करने लगती है। पति को खीर अच्छी लगती है, या राजमाँ चावल बहुत अच्छे लगती है या गाजर, आलू की सब्जी, तो फिर वही चीजें वह बनाना चाहती हैं, वैसा ही वह सोचने लगती है और वैसा ही वह करने लगती है। उसे स्वयं जो कुछ अच्छा लगता है वह सब कुछ तो वह फिर बना ही नहीं पाती। क्योंकि वह अपनी इच्छाओं और अपनी रुचियों से तो फिर बहुत ऊपर उठ जाती है। नारी के इस त्याग तप से पति बहुत प्रसन्न रहता है। और अपने पति को प्रसन्न देखकर फिर वह नारी भी दिल से फूली

नहीं समाती। पति घर पर आते हुए सहृदयतावश सोचता है कि ''मेरी पत्नी को क्या अच्छा लगता है या फिर उसके स्वास्थ्य के लिये अनुकूल क्या है ? तो फिर वह साम्मनस्य के कारण, वैसा ही सोचता–विचारता हुआ वही वस्तु ही घर ले आता है।'' इससे नारी भी बड़ी प्रसन्न रहती है और प्रसन्न नारी, प्रसन्न पत्नी को देखकर फिर पति भी फूला नहीं समाता। आगे चलकर जब बच्चा उत्पन्न होता है तो फिर नारी, और नर–पति और पत्नी सहृदयतावश सोचते हैं कि बच्चे को क्या अच्छा लगता है और उसको क्या अनुकूल है ? कभी–कबाड़ नारी पूछती है पति से कि–''पति देव! आज क्या बनाऊँ ?'' तो पति झट बोल देता है–''देवी! जो बच्चों को अच्छा लगे और जो उन्हें अनुकूल हो, तू वही बना।'' तब पति–पत्नी साम्मनस्य के कारण बच्चों के मन के अनुकूल ही सोचने–विचारने और करने लगते हैं। पति तब प्रायः वह लाता है जो बच्चों को प्रिय और अनुकूल होता है, नारी भी तब प्रायः वही सब कुछ बनाती है, जो बच्चों को प्रिय–रुचिकर और अनुकूल हो। यह सब देख कर बच्चे भी तब बड़े ही प्रसन्न रहते हैं, बड़े ही खुश रहते हैं। और खुश–प्रसन्न बच्चों को देखकर तब माँ–बाप भी फूले नहीं समाते। ऐसी स्थिति में बच्चों का प्रेम, आदर और मान–सम्मान का भाव आदि अपने माँ–बाप में बहुत बढ़ता है और माँ–बाप का लाड़–प्यार आदि अपने बच्चों में प्रगाढ़ होता जाता है। इससे तब घर–परिवार सब सदा हरा–भरा बना रहता है। मुझे याद है एक बार बस में एक व्यक्ति ने ४ सन्तरे लिये। एक बेटी, एक बेटे और एक पत्नी को देकर एक स्वयं ले लिये। तीनों ने सन्तरा खा लिया तब बेटी माँ से बोली–''माँजी! आप का बस में जी खराब होता है, इसलिये मैंने अपना सन्तरा रख लिया है। पता नहीं आगे मिले न मिले, तो आप मुझ से ले–लेना।'' माँ ने बेटी की अपने प्रति उस दिव्य भावना को जब जाना, तो वह बड़ी ही प्रसन्न हुई और बोली कि–''न जाने मैं इस बेटी पर क्या वार दूँ। इस ८–९ वर्ष में इस की बड़ी ही सुन्दर भावनायें हैं।''

घर में अतिथि आया, अभ्यागत आया, तो मानो भगवान् आया। अब सहृदयतावशात् परिवार के सदस्यों में साम्मनस्य

उत्पन्न हुआ। इसलिये उसकी गर्मी वा सर्दी को परिवार वालों ने अपनी ही गर्मी–सर्दी समझा। तभी उन्होंने उसे अपनी ही सर्दी–गर्मी समझ कर उसे दूर करने के लिये उसे गर्म–ठण्डा जल दिया। फिर उसकी भूख–प्यास को सहृदयतावश अपनी ही भूख–प्यास मानकर, समझकर, अनुभव करके उन्होंने उस भूख–प्यास को मिटाने के लिये उसे कुछ खाने–पीने को दिया। फिर उसकी थकान को सहृदयतावश अपनी ही थकान मानकर उसको विश्राम के लिये अच्छा से अच्छा स्थान दिया, अच्छे से अच्छे वस्त्राच्छादन दिये।

सच कहा जाये तो जिस घर में, जिस समाज में सहृदयता होती है, वहाँ साम्मनस्कता भी जरूर होती है। और जहाँ ये दोनों विद्यमान रहती हैं, वहाँ फिर कोई वैर–विरोध नहीं होता, वरन् वहाँ तो एक व्यक्ति किसी चीज वा कार्य का प्रस्ताव रखता है तो दूसरे सब सहृदयतावशात् उस पर फूल चढ़ाते हैं। अर्थात् सब उसका अनुमोदन करते हैं और फिर सभी एक मन से उस कार्य को सम्पन्न करने में लग जाते हैं। और जब तक फिर उस कार्य को सिद्ध नहीं कर लेते तब तक सब एक मन होकर उस में जुटे रहते हैं। जब सब प्रेमपूर्वक लग जाते हैं, तब उस कार्य की सिद्धि भी सहज हो ही जाती है। कार्य सिद्ध होने पर फिर सब फूले नहीं समाते। वेद भगवान् यही चाहता है कि हर घर–परिवार वा समाज में ऐसी ही सहृदयता और ऐसा ही प्रेम बना रहे। हमें चाहिये कि मन–वचन और कर्म से हम सब इसके अनुकूल आचरण करते हुए अपने घर–परिवार एवं समाज को सुखमय, स्वर्गमय, आनन्दमय बनाएँ।

द्वितीय रश्मिः

"अविद्वेषं कृणोमि वः।" –अथर्व० ३.३०.१

"मैं तुम्हें द्वेषरहित करता हूँ।"

संक्षिप्त अन्वयार्थ–[अहम्] **(अविद्वेषं कृणोमि वः) मैं तुम्हें** द्वेषरहित करता हूँ।

अन्वयार्थ–हे मनुष्यो! मैं तुम सबको द्वेषरहित करता हूँ वा करना चाहता हूँ।

व्याख्या–परम पिता परमेश्वर घर–परिवार में, सभा–समाज में, ग्राम–नगर वा देश में रहने वाले हम सब मनुष्यों को द्वेषरहित करना चाहता है, अप्रीतिरहित करना चाहता है। अर्थात् घर–गृहस्थ में, समाज वा राष्ट्रादि में रहते हुए हमारे भीतर जो दूसरों को देखकर, दूसरों को सुनकर, दूसरों के ज्ञान, धन, यश, मान–सम्मान को देख–सुनकर खुश न होने, प्रसन्न न होने, तृप्त न होने के जो संस्कार हैं, विचार हैं, व्यवहार हैं, उन्हें प्रभु हमारे भीतर से बाहर निकालना चाहता है। इतना ही नहीं हमारे भीतर जो दूसरों के प्रति द्वेष ही नहीं वरन् जो विद्वेष के, विशेष द्वेष के, अत्यन्त द्वेष के, अत्यन्त अप्रीति के, अत्यन्त घृणा के भाव हैं, जो कि हमें कभी दूसरों को देख–सुनकर प्रसन्न नहीं होने देते, जो कि हमें किसी के धन–वैभव, सुख–सौभाग्य, मान–सम्मान, यश–कीर्ति, उन्नति–समुन्नति आदि–आदि पर तृप्त नहीं होने देते, गुलाब के फूल के समान खिलने नहीं देते, न ही हर्ष–खुशी मनाने देते हैं। ऐसे अत्यन्त विद्वेष के, अत्यन्त अप्रीति के भावों को प्रभु हमारे भीतर से निकाल बाहर करना चाहता है। गृहणी की मार्जनी–झाड़ू के समान इस अत्यन्त अप्रीति वा घृणा के भावों को कूड़े–कचरे के समान बाहर कर वह हमारे मन–मन्दिर को साफ–सुथरा कर उसमें फिर अत्यन्त प्रीति के ऐसे भावों को भरना चाहता है कि जिस के परिणामस्वरूप फिर हम केवल परिवार के ही नहीं वरन् सब संसार के मनुष्य एक–दूसरे को देखकर तृप्त होंगे, एक दूसरे के धन–वैभव को देखकर भी तृप्त होंगे, एक–दूसरे

के मान–सम्मान को देखकर भी तृप्त होंगे, एक–दूसरे की कीर्ति–यश को देखकर भी तृप्त होंगे, एक–दूसरे की उन्नति–समुन्नति को निहार कर भी प्रसन्न होंगे, एक–दूसरे की पद–प्रतिष्ठा को देखकर भी गद्‌गद् होंगे।

वह प्रभु इन मनुष्यों को द्वेष से, विद्वेष से, अर्थात् अप्रीति से, अत्यन्त अप्रीति से क्यों दूर करना चाहता है, इसलिये कि प्रभु जानता है कि जिस में द्वेष–विद्वेष वर्त्तमान रहेगा, दूसरों के प्रति अप्रीति और अत्यन्त अप्रीति रहेगी तो फिर उस व्यक्ति को किसी की अच्छी से अच्छी वृत्ति, किसी की पवित्र से पवित्र दृष्टि, और उसके आधार पर उसकी होने वाली, पवित्र से पवित्र कृतियों में भी दोष दीखेंगे, कमियाँ दीखेंगी, त्रुटियाँ दीखेंगी, उसके निःस्वार्थ व्यवहारों में भी स्वार्थ दीखेंगे, छल–कपट दीखेंगे इत्यादि। और उसके परिणाम स्वरूप उसकी फिर उन व्यक्तियों से घृणा हो जायेगी, नफरत हो जायेगी। फिर इतना ही नहीं वरन् उससे फिर उनकी निन्दा भी होगी, उनकी बुराई भी होगी, उनकी चुगली भी होगी, उनकी जगह–जगह बदनामी भी होगी, उनकी हानि (नुकसान) भी होगी, उनकी हिंसा भी होगी, उससे उनके प्रति दुरित भी होंगे, उनके अपमान भी होंगे, उनके तिरस्कार भी होंगे। इसलिये वह प्रभु हमें इस द्वेष से, इस विद्वेष से रहित करना चाहता है। सामवेद ४२६ मन्त्र में कहा है–

न अमँहो न दुरितं देवासो अष्ट मर्त्यम्।
सजोषसो यमर्यमा मित्रो नयति वरुणो अतिद्विषः॥

–साम० ४२६

(देवासः यम् अर्यमा मित्रः वरुणः द्विषः अति नयति, तं मर्त्यं न अहंः, न दुरितं अष्ट) हे देवो! हे विद्वानो! हे ज्ञानियो! जिस मनुष्य को न्यायकारी मित्रस्वरूप वरणीय प्रभु द्वेष से तार देता है, उस मनुष्यों को न कोई अँहस, अर्थात् पाप और न ही कोई दुरित अभिव्याप्त कर सकता है, अभिभूत कर सकता है। इससे यह ज्ञात हुआ कि जिस मनुष्य के हृदय में किसी के प्रति द्वेष होता है, अप्रीति होती है, घृणा होती है, नफरत होती है, उसी के हाथों से ही अगलों के प्रति अँहस होता है, अगलों के प्रति पाप होता है, अगलों के प्रति अपराध होता है, अगलों के प्रति

हिंसा होती है। और इसी द्वेष ही के कारण ही मनुष्य से दूसरों के प्रति दुरित होता है, दूसरों के प्रति दुर्भावना होती है, दूसरों के प्रति दुर्व्यवहार होता है, दूसरों के प्रति बुरे से बुरा, कटु से कटु व्यवहार होता है।

अब जिस द्वेष–अप्रीति–घृणा नफरत–शत्रुता के कारण मनुष्य के द्वारा दूसरों के प्रति अँहस होते हैं दुरित होते हैं, उस द्वेष–विद्वेष को प्रभु हमारे भीतर से निकालना चाहता है, ताकि हममें प्रीति पनप सके। इस प्रकार हमारे हृदय में दूसरों के प्रति जब प्रीति पनप जायेगी और फिर सब में प्रभु को बसा हुआ समझकर भी जब हम उन सब के प्रति प्रीति रखेंगे, तो उसके परिणामस्वरूप हम जिसको देखेंगे, जिसको सुनेंगे, उसके प्रति हमारे हृदय में प्रीति उमड़ेगी। प्रीतिवशात् उनके फिर उन्नत कार्यों को देखकर हममें उसका सही मूल्यांकन करने की वृत्ति होगी। उनके गुण फिर हमें गुण ही अनुभव होंगे, उनके उत्तम कार्य भी हमें फिर उत्तम कार्य ही दीखेंगे। उनके पद और उनकी प्रतिष्ठा को देखकर हम सब तब प्रसन्न होंगे, उनके मान–सम्मान को देखकर तब हम फूले नहीं समायेंगे। फिर हमारे द्वारा उनके प्रति अँहस नहीं होंगे, पाप नहीं होंगे, अपराध नहीं होंगे, दुरित नहीं होंगे, दुश्चिन्तन नहीं होंगे, दुर्भावनाएँ नहीं होंगी, दुर्व्यवहार नहीं होंगे, बल्कि फिर जिनके साथ भी हम मिलेंगे, बड़े प्यार से मिलेंगे, जिनसे बात करेंगे, बड़े प्यार से करेंगे, जिनकी बात सुनेंगे बड़े प्यार से सुनेंगे, जिनकी ओर देखेंगे, बड़े प्यार से और पवित्र भाव से देखेंगे, जिस के साथ जो भी हमारा व्यवहार होगा, वह बड़ा मिठासपूर्ण ही होगा, बड़ा सोहार्द पूर्ण ही होगा, बड़ा हृदयावर्जक व्यवहार ही होगा। फिर हमारे उस व्यवहार में स्नेह होगा, प्यार होगा, स्नेह–सहानुभूति होगी, मान–सम्मान होगा। इससे फिर तब हम सब का जीवन बड़ा ही सुखमय व्यतीत होगा, बड़ा ही शान्तिमय व्यतीत होगा। बड़ा ही आनन्दमय व्यतीत होगा।

तृतीय रश्मिः

"अन्यो अन्यमभिहर्यत" –अथर्व० ३.३०.१

"एक दूसरे की ओर स्नेह से बढ़ो।"

अन्वय–हे मनुष्यो! तुम **(अन्यः अन्यम् अभिहर्यत)** एक दूसरे को प्यार से मिलो, तुम एक दूसरे के प्रति प्यार से बढ़ो, तुम एक दूसरे के प्रति स्नेह एवं उत्साह से गति करो।

अन्वयार्थ–तुम सब परस्पर **(अन्यः अन्यम् अभिहर्यत)** एक दूसरे के प्रति स्नेह से गति करो।

व्याख्या–हे मनुष्यो! तुम सब में से प्रत्येक का यह कर्त्तव्य है कि वह जो दूसरे के प्रति गति करे, व्यवहार करे, वह ज्ञान पूर्वक करे, वह बुद्धि पूर्वक करे, वह पवित्रता पूर्वक करे, वह प्रसन्नवदन होकर करे, वह प्यार पूर्वक करे। वह दूसरे के प्रति जो बात करे, दूसरे के प्रति जो आगे बढ़े, दूसरे के प्रति जो दृष्टि उठाए, दूसरे की बात पर जो ध्यान दे, दूसरे से जब स्नेह करे, वह सब ज्ञान पूर्वक करे। ज्ञान पूर्वक कैसे–जैसे कि यह "मेरी माँ है वा माता के तुल्य है, यह मेरी बहिन है वा बहिन के तुल्य है, यह मेरी बेटी है वा बेटी के तुल्य है, यह मेरी पत्नी है या मेरी पत्नी के समान किसी की धर्म पत्नी है, किसी की अनुव्रता पत्नी है, यह मेरा भ्राता है या भ्राता तुल्य है, यह मेरा पुत्र है वा पुत्रवत् है, यह मेरा पिता है वा पिता के तुल्य है, यह मेरा पड़ोसी है वा मेरे पड़ोसी जैसा है, यह मेरे ग्राम का, नगर का, मेरे जनपद का, मेरे प्रान्त का, मेरे देश का वा मेरे पड़ोसी देश का वा मेरे (समान एक मानव है वा मेरे) समान एक प्राणी है।" मेरी तरह इनकी भी आत्मा है, हृदय है, मन है, बुद्धि है। मेरी तरह इनको भी कड़वा बोल बुरा लगता है, मेरी तरह इनको भी गाली–गलोज बुरा लगता है, मेरी तरह इनको भी अपने प्रति किया हुआ क्रोध बुरा लगता है, मेरी तरह इनको भी कोई क्रोधभरी दृष्टि से निहारे, घृणा की दृष्टि से देखे अपमान की दृष्टि से देखे, तिरस्कार के नेत्रों से निहारे, ईर्ष्या और द्वेष की दृष्टि से देखे, तो इनको भी कष्ट होता है, इनको

भी दुःख होता है। मेरी तरह इनके प्रति भी कोई अपवित्र भावना करे, इनकी माँ, बेटी और बहिन को अपवित्र दृष्टि से देखे, इनके साथ बलात्कार करे, तो इन्हें पीड़ा होती है, इन्हें कष्ट होता है, इनके दिल में आग लगती है। मेरी तरह इनको भी अपना धन प्यारा है, अपना अन्न आदि खाद्य पदार्थ प्यारा है, अपनी जमीन–जायदाद प्यारी है। अतः मेरी तरह इनसे भी उसे कोई छीने, झपटे, चुराए, लूटे वा लेकर भाग जाए, तो इन को भी बुरा लगता है, ये भी दुःखी होते हैं, मेरी तरह ये सब भी अपने उस धन–अन्न आदि की रक्षा–सुरक्षा के लिये लगातार दौड़–धूप करते हैं। मेरी तरह इनके भी बच्चे हैं, माताएँ हैं, बेटियाँ हैं, बहिनें हैं, पोते–दोहते हैं। अतः इन्हें कोई मारे–पीटे वा हानि पहुँचाए तो इनका भी जी दुःखता है, इनको भी दूसरे के ऐसा करने पर क्रोध आता है, अतः ये भी मुझे मार सकते हैं, दुःख दे सकते हैं, हानि पहुँचा सकते हैं। अतः मुझे वा हमें चाहिए कि हम इनके प्रति हिंसा का व्यवहार न करें, इन्हें मारें नहीं, इनके प्रति क्रोध न करें, इनको बुरी दृष्टि से न देखें, इनका अपमान न करें, इनका तिरस्कार न करें, इनके प्रति द्वेष न करें, इनके प्रति ईर्ष्या न करें, इनसे घृणा न करें, इनसे नफरत न करें, इनको दुःख न दें, इनको कष्ट न दें, इनके प्रति अभद्र व्यवहार न करें, इनके साथ बुरा बर्त्ताव न करें।

हमें चाहिए कि वेद के सदुपदेश के अनुसार **(पुमान् पुमासं परिपातु विश्वतः)** हम में से प्रत्येक मनुष्य दूसरे मनुष्य की चहुँ ओर से रक्षा करे। जैसे हमें अपनी जान प्यारी है वैसे हमें दूसरों की भी जान प्यारी लगनी चाहिये, जैसे हमें अपनी माँ, बेटी वा बहिन प्यारी हैं, जैसे हमें उनकी सुख–सुविधा और इज़्ज़त प्यारी है, वैसे ही दूसरों की माँ बेटी, बहन और उनकी सुख–सुविधाएँ तथा उनकी इज़्ज़त भी तो हमें प्यारी होनी चाहिये। अतः हमें चाहिये कि हम में से प्रत्येक, जो दूसरों के प्रति आगे बढ़े, दूसरों के प्रति गति करे, वह ज्ञान पूर्वक करे, स्नेह सहानुभूति पूर्वक करे, वह दूसरों से बोले तो प्यार से बोले, उन्हें देखे, तो स्नेह से देखे, उनसे बर्त्ते तो निश्छल होकर बर्त्ते, उनके प्रति सोचे तो पवित्र हृदय से सोचे, उन्हें खिलाए–पिलाए, उनसे मिले–जुले तो प्यार से मिले, उन्हें निहारे तो प्यार और पवित्रता

से निहारे। इससे क्या होगा ? उनकी आत्मा तृप्त होगी, उनका हृदय पुण्डरीक–हृदय कमल खिल जायेगा। फिर क्या होगा, मैं भी उनको अपने भाई के तुल्य ही दीखने लगूँगा, उनको अपने पिता के तुल्य पिता प्रतीत होने लगूँगा, फिर उनको अपने पुत्र तुल्य अपना पुत्र प्रतीत होने लगूँगा, फिर उनके हृदयों से मेरे प्रति भी सहृदयता पूर्ण व्यवहार होने लगेंगे, उनके दिल मेरे प्रति हरे–भरे होने लगेंगे, फिर उनकी आखें स्नेह और स्नेहपूर्ण हृदय से मेरी बाट जोहती रहेंगी, उनकी आँखें फिर हमें देखना चाहेंगी, और हमें देखकर तृप्त होना चाहेंगी, उनके कान मुझे सुनना चाहेंगे, उनके पैर उनको मेरी ओर प्यार से आगे बढ़ने को प्रेरित करते रहेंगे, उनके हाथ तब मेरी सेवा–शुश्रूषा, मेरी आव–भगत करने में तत्पर होना चाहेंगे, उनके हाथ तब हृदय के अनुसार मेरे सम्मुख जुड़ना चाहेंगे, सिर झुकना चाहेगा, हृदय देखकर प्रेम में विभोर होना चाहेगा। इस प्रकार वेद के आदेशानुसार फिर एक–दूसरे के प्रति जो गति होगी, जो व्यवहार होगा, वह सब ज्ञान पूर्वक होगा, प्रेम पूर्वक होगा। और वह व्यवहार ऐसा होगा कि फिर हमें एक दूसरे के प्रति गद्‌गद् कर देगा, वह व्यवहार तब ऐसे प्यार पूर्वक, निश्छलता पूर्वक, निःस्वार्थ पूर्वक होगा जैसा कि गौ का नवजात बछड़े के प्रति होता है, जैसा कि वेद में आदेश, उपदेश, निर्देश और सन्देश है।

चतुर्थ रश्मिः

अनुव्रतः पितुः पुत्रः। –अथर्व० ३.३०.२

अन्वयार्थ–[पुत्रः पितुः अनुव्रतः (भवतु)] पुत्र पिता का अनुव्रती हो।

पुत्र को चाहिए कि वह अपने जन्मदाता एवं पालन–पोषणकर्त्ता पिता के अनुकूल व्रत करने वाला हो, अनुकूल कर्म करने वाला हो।

व्याख्या–पुत्र का कर्त्तव्य है कि वह पिता के अनुकूल व्रत करे, बेटे को चाहिए कि वह अपने पिता की आज्ञा के अनुकूल कार्य करें, बेटे को चाहिये कि वह अपने बाप के हुक्म के मुताबिक काम करे।

वास्तव में पुत्र तभी ऐसा कर सकेगा जब कि वह यह सोचे, वह यह समझे, वह यह विचारे, वह यह अनुभव करे कि–"यह मेरा पिता है और मैं इस का पुत्र हूँ। और पुत्र होने के नाते मुझे ऐसा लगता है कि जब मेरा जन्म हुआ होगा तो अन्य सब पिताओं की तरह मेरे इस पूज्य पिता ने भी मेरे जन्म पर खूब प्रसन्नता अनुभव की होगी, खूब खुशियाँ मनाई होंगी, खूब लड्डू–पेड़े बाँटे होंगे। इतना ही नहीं, इन्होंने बड़े प्यार से मेरा जातकर्म संस्कार करके स्वर्णशलाका को मधु और घृत में, शहद और घी में डुबो–डुबो कर मेरी जिह्वा पर बड़े लाड़ और प्यार से परमेश्वर का प्यारा मुख्य नाम 'ओ३म्' लिखा होगा। इसलिए कि मैं आस्तिक बनूँ, मैं ईश्वर–विश्वासी बनूँ, ईश्वर पर हृदय से निष्ठा रखता हुआ मैं उसकी प्रतिदिन उपासना करूँ। मैं प्रतिदिन में भी प्रातः–सायं अर्थात् दोनों समय श्रद्धा–भक्ति और प्रेम से उसका भजन करूँ, पूजन करूँ। इसी पिता ने मेरी लम्बी आयु–उम्र की कामना भी की होगी। इन्होंने मुझे रंग–रंगीले सुरभित पुष्पों–फूलों की मालायें भी पहनाई होंगी, सब बन्धु–बान्धवों और सामाजिक सज्जनों के साथ मिलकर मुझे दीर्घायु का आशीर्वाद देकर मुझ पर फूल भी बरसाये होंगे, मुझ पर जी भरकर पुष्पों की खूब वर्षा भी की होगी। नहीं नहीं, इतना ही नहीं कि वे केवल मेरी लम्बी आयु की कामना, प्रार्थना

आदि करके ही आराम से बैठ गए होंगे, वरन उन्होंने तदनुसार जी–जान से परिश्रम कर–करके एडियाँ घिस–घिस कर के मुझे हर दृष्टि से स्वस्थ, समर्थ–सशक्त और योग्य–सुयोग्य, सम्पन्न–सुसम्पन्न बनाने का हार्दिक प्रयास भी किया होगा। उन्होंने पुनः मेरा नामकरण, अन्न–प्राशन, कर्णभेद, मुण्डन, उपनयन, वेदारम्भ संस्कार आदि भी बड़े उत्साह, बड़ी उमंग से किया होगा। यह सब कुछ उन्होंने इसलिये किया होगा कि मैं उनके अरमानों की कभी सच्ची तस्वीर बन सकूँ, उनकी अभिलाषाओं की कभी साक्षात् मूर्त्ति बन सकूँ, मेरा उनके हार्दिक उत्तम सङ्कल्पों के अनुसार कभी एक आदर्श चित्र तैयार हो सके। तात्पर्य यह है कि कभी मैं ऐसा महान् बन सकूँ कि जिस से मेरे पूज्य पिता जी को देख–देख कर वा सुन–सुन कर तृप्ति मिल सके प्रसन्नता अनुभव हो सके, यह सब कुछ इसलिये भी वह करता है कि मैं कभी उनका अनुव्रती बन सकूँ, उनका आज्ञाकारी बन सकूँ, उनकी भावनाओं के अनुरूप, उनके उत्तम व्रतों–कर्मों के अनुसार एक सच्चा पुत्र बन सकूँ, एक अच्छा पुत्र बन सकूँ, ताकि उनको मुझ पर गर्व हो।''

पिता होने के नाते वे मुझे अपना पुत्र समझ कर मुझ से यह भी आशा करते हैं कि पुत्र होकर मैं आने वाले समय में उनको पुत्–नाम नरक से तार सकूँ। अर्थात् मैं जब सब प्रकार से समर्थ हो जाऊँ और वे जब असमर्थ हो जाएँ, वे जब अशक्त हो जाएँ, वे जब रुग्ण हो जाएँ वा वे जब वृद्ध हो जाएँ, तो मैं नरक से, कष्ट से, आपत्ति से, विपत्ति से उन्हें तार सकूँ, उभार सकूँ, रोग आदि कष्टों से उन्हें बचा सकूँ।

जिस पिता ने मेरी जिह्वा पर बड़े प्रेम से प्रभु का ''ओ३म्'' नाम लिखा था, वह सम्भवतः यह सोचकर लिखा था कि– ''बेटा सब कुछ भूल जाना, पर जिस महान् परम पिता परमेश्वर का नाम मैं तेरी जिह्वा पर लिख रहा हूँ, उसको तू कभी न भूलना, उसके प्रति तू सदा कृतज्ञ होकर उस का भक्ति भरे भावों में विभोर होकर गुण–गान करना, उसका मनन करना, जाप करना, उसका एकाग्रभाव से सदा ध्यान करना।'' अब देखने की बात यह है कि क्या मैं उस प्यारे और सब जग से न्यारे परम पिता परमेश्वर का प्रतिदिन, प्रतिदिन मैं भी प्रति

प्रभात और प्रति सायं कृतज्ञता पूर्वक श्रद्धा, भक्ति और प्रेम से स्मरण करता हूँ या नहीं ? उसको सदा सर्वत्र विराजमान समझ कर उसकी कृतज्ञ भाव से ओत–प्रोत हुआ हुआ स्तुति, प्रार्थना और उपासना करता हूँ या नहीं ? यदि नहीं, तो अपने जीवन के बीते हुए दिनों पर प्रायश्चित करते हुए भविष्य में मुझे सच्चा आस्तिक बनने का हार्दिक प्रयास करना चाहिए। अब जब मैंने प्यारे और सब दुनियाँ से न्यारे प्रभु के प्रति कृतज्ञ रहना है, तो फिर भला मैं अपने उस पूज्य पिता के प्रति कब कृतघ्न रह सकता हूँ ? जिन्होंने कि मेरे सभी संस्कार करके मुझे हर दृष्टि से संस्कृत–सुसंकृत, स्वस्थ–समर्थ, विद्या–सुशिक्षा से सुयोग्य और उत्तम बनाने का हार्दिक प्रयास किया है, जिन्होंने कि मेरा जी–जान से पालन–पोषण किया है, जिन्होंने कि स्वयं फटा–पुराना कपड़ा पहना और मुझे नये से नया और सुन्दर से सुन्दर कपड़ा पहनाया है, जिन्होंने कि स्वयं प्रायः रूखा–सूखा और बासी खाया–पीया, और मुझे तरो–ताजा खिलाया–पिलाया है, इत्यादि। अब मैं हार्दिक प्रयास करूँगा कि मैं अपने ऐसे पूज्य पिता को नित्यप्रति कृतज्ञ भावना से आप्लावित हुआ–हुआ श्रद्धा, प्रेम से प्रणाम करूँ, नित्य–प्रति उनकी आज्ञाओं का पालन करूँ, नित्य–प्रति उनके जीवन के जो व्रत हैं, जो श्रेष्ठ कार्य हैं, जो उत्तम–उत्तम गुण–कर्म–स्वभाव हैं, उनके अनुरूप आचरण करूँ। पुत्र कहला कर मैं सदा जी–जान से उनकी परिचर्या करूँ। भविष्य में जब वे वृद्ध हो जायें, तो मैं उनका भली–भाँति पालन–पोषण करूँ। यदि वे रुग्ण हो जायें तो मैं उनकी अच्छे से अच्छे वैद्य–हकीम और डाक्टर से चिकित्सा कराऊँ, मैं उनके औषधोपचार की पूर्ण व्यवस्था करूँ। और यह सब कुछ मैं उनके कष्ट–क्लेशों–आपत्तियों को दूर कर उनको सुदीर्घ काल तक स्वस्थ–सशक्त और सुप्रसन्न बनाए रखने का प्रयास करूँ, ताकि सुदीर्घकाल तक उनका वरदहस्त मेरे सिर पर बना रहे और उनका रोम–रोम से निकलने वाला प्यार और आशीर्वाद भी मुझे सतत मिलता रहे।

यदि यह सब कुछ मैं करता रहूँगा तो सचमुच वेदोपदेश के अनुसार मैं अपने पूज्य पिता का अनुव्रती पुत्र, आज्ञाकारी पुत्र, सच्चा पुत्र कहला सकूँगा।

पञ्चम रश्मिः

[पुत्रः] मात्रा भवतु सम्मना। –अथर्व० ३.३०.२

अन्वयार्थ–पुत्र माता से एकमन वाला हो, पुत्र माता के समान मन वाला हो।

पुत्र को चाहिए कि वह अपनी माँ के समान मन वाला होवे, वह अपनी माँ के साथ एकमन वाला होवे।

वास्तव में पुत्र तभी ऐसा बन सकता है जबकि वह अपनी माँ का सही मूल्यांकन करे। सही मूल्यांकन भी वह अपनी माँ का तब कर सकता है जबकि वह यह विचार करे, जबकि वह यह सोचे–समझे कि यह मेरी वह माँ है जिसने मुझे जन्म दिया है, जन्म भी यों ही नहीं दिया, वरन् बड़े तप से दिया है। ९ मास इसने मुझे अपने गर्भ में रखा। गर्भावस्था में इसके सतत रक्तप्रदान करने आदि से ही मैं भीतर ही भीतर पलता पुस्ता रहा। ज्यों–ज्यों भीतर से मैं बढ़ता रहा, त्यों–त्यों यह मेरी माँ प्रसन्न होती रही। भीतर मेरे वर्त्तमान रहते हुए यह मेरी माँ निरन्तर वह खाती रही, वह पीती रही, जिससे मुझे किसी प्रकार की हानि न हो, मुझे किसी प्रकार का कष्ट न हो। यह वह सब पढ़ती रही, वह सब सुनती रही जिससे कि मेरे संस्कार उत्तम बन सकें, और मेरा आने वाला जीवन उत्तम बन सके। यह यदि कभी राह पर चलती रही वा किसी पगडण्डी पर अपना पग बढ़ाती रही, तो यह ऐसे सम्भल–सम्भल कर चलती रही, ऐसे सम्भल–सम्भल कर अपना पग बढ़ाती रही कि जिससे कहीं भीतर से मुझे किसी प्रकार की हानि न हो। फिर प्रसव पीड़ा आदि सब कुछ सहन करके जब इसे यह ज्ञात हुआ कि मेरा जन्म हुआ है, तो सन्तानोत्पत्ति की ध्वनि कानों पड़ते ही यह तब इतनी प्रसन्न हो गई कि उस प्रसन्नता में यह अपने सब कष्टों को ही भूल गई। पुत्रोत्पत्ति के उपरान्त अपने सब कष्टों को भूली हुई–हुई यह मेरी माँ मन ही मन मेरे बारे में बड़े सुन्दर -सुन्दर स्वप्न लेने लगी, बड़ी ही उत्तमोत्तम भावनाओं में बहने लगी, और यों सोचने–विचारने लगी कि–"११वें दिन जब मेरे इस प्यारे पुत्र का नामकरण संस्कार होगा तो मैं इसका

यह नाम रखूँगी, मैं इसका वह नाम रखूँगी, नहीं नहीं, मैं अकेली नहीं वरन् अपने सास–ससुर से सलाह लेकर, जिठानी–दिरानी (=देवरानी) और नन्द आदि से विचार–विमर्श करके ही इसका नाम रखूँगी। नहीं नहीं मेरे इस प्यारे पुत्र में मेरे इस प्राणप्रिय पति के भी अनेकों अरमान होंगे अतः मैं उन से भी सलाह–मशवरा करके इस बच्चे का ऐसा सुन्दर नाम रखूँगी, जैसा कि किसी दूसरे का कभी हुआ ही न हो। इस शुभ अवसर पर मैं अमुक विद्वान् को बुलाकर उसी से इसका नामकरण संस्कार कराऊँगी, इस शुभ अवसर पर मैं इन बन्धु–बान्धवों को बड़े प्यार और बड़ी श्रद्धा से बुलाऊँगी। सब बन्धु–बान्धवों के साथ–साथ सभी सामाजिक महानुभावों से भी मैं इस बालक को आशीर्वाद दिलाऊँगी। मैं अपनी कुलपरम्पराओं के अनुकूल ही अपनी और अपने पति की उत्तमोत्तम भावनाओं के अनुरूप ही इस बालक को बहुत अच्छा विद्वान् बनाऊँगी, बहुत बड़ा डॉक्टर, इंजीनियर वा बहुत बड़ा धनी–मानी बनाऊँगी। बहुत बड़ा दानी, धर्मात्मा और पुण्यात्मा बनाऊँगी। मैं इसको मधुर, प्रिय बोलना सिखाऊँगी, मैं इस को शरीर से स्वस्थ–सुन्दर बनाऊँगी। मेरे वस्त्र चाहे कैसे भी घटिया से घटिया क्यों न हो जाएँ, पर इसको मैं बढ़िया से बढ़िया वस्त्र पहनाऊँगी, मैं स्वयं चाहे खाऊँ या न खाऊँ पर इसको तो मैं बढ़िया से बढ़िया खिलाऊँगी, बढ़िया से बढ़िया दुग्ध रस आदि पिलाऊँगी। मैं इसका अन्नप्राशन, कर्णभेद, मुण्डन, उपनयन आदि संस्कार कराऊँगी। मैं उत्तम गुण–कर्म–स्वभाव वाली सुयोग्य कन्या से इसका विवाह कराकर अपने घर को स्वर्ग–सा बनाऊँगी। मेरा बेटा प्रभु की अपार कृपा से और मेरे जी–जान से किए गए पुरुषार्थ से इतना अच्छा बनेगा कि वह मेरी और अपने पूज्य पिता आदि की जी–जान से सेवा–शुश्रुषा करेगा। मेरा बेटा आए–गए का मान–सम्मान करेगा, उनको हृदय से अभिवादन करेगा, उनकी भी यह सेवा–शुश्रुषा करके यह अपने माँ–बाप का नाम उज्वल करेगा। यह बड़ा आस्तिक होगा। प्रभु का नित्य–प्रति प्रातः–सायं बड़ी श्रद्धा से गुण–गान किया करेगा, मेरे साथ बैठ–बैठ कर बड़े प्रेम से सन्ध्या–हवन किया करेगा। स्कूल–कालेज में यह सदा अपने गुरुओं का मान–सम्मान कर उनको कृपा से बड़ा ही शिष्ट एवं सुयोग्य बनेगा। यह जब मुझे

माँ कहकर प्यार से पुकारेगा तो तब मैं फूली नहीं समाऊँगी। यह जब प्यार से बनाए हुए मेरे भोजन आदि को खायेगा तो मैं बड़ी ही तृप्त होऊँगी। यह जब कार्य करके अपने प्रथम मास की कमाई लाकर मुझे देगा, तो उस दिन मैं प्रभु का बहुत-बहुत धन्यवाद करूँगी, और मैं तब फूली नहीं समाऊँगी। फिर मैं इसकी उस प्रथम मास की आय को शुभ कर्मों में लगाऊँगी, दूसरे मास की इसकी आय से मैं बन्धु-बान्धवों को खिला-पिलाकर रिझाऊँगी, तब तृतीय मास की इसकी आय को मैं अपने घर-परिवार में व्यय करूँगी आदि आदि।''

इस प्रकार जब मैं दिल से सोचूँगा, यह सब कुछ जब मैं मन से विचार करूँगा, माँ के हृदय को पढ़-पढ़ कर जब मैं भीतर ही भीतर यह सब अनुभव करूँगा, तो तब मैं अपनी इस पूज्या माँ, अपनी इस अरमानों से भरी माँ, अपनी इस न्यारी और सबसे प्यारी माँ के साथ समान मन वाला बन सकूँगा, अपनी इस उत्तम माँ के साथ एक मन वाला बन सकूँगा। समान मन वाला, एक मन वाला बना हुआ-हुआ तब मैं बड़ा ही शिष्ट, बड़ा ही प्यारा, बड़ा ही सौम्य, बड़ा ही आस्तिक, बड़ा ही दयालु, बड़ा ही विद्वान्, बड़ा ही सेवापरायण, पूज्य माँ की भावनाओं पर हृदय से फिदा होने वाला, उसके चरणों का नित्य स्पर्श कर-करके उससे प्यार और आशीर्वाद पाकर अपने जीवन को धन्य-धन्य मानने वाला, अपनी अपेक्षा घर में माता-पिता को सदा श्रेय देने वाला, अपने भाई-बहिनों को आदर और प्यार देने वाला, उन सबके लिए बड़े-से-बड़ा त्याग-तप और बलिदान करने वाला बन सकूँगा। तब मैं स्वयं खा-खा कर नहीं, वरन् उन्हें खिला-खिला कर खुश होऊँगी, तब मैं उन सब से सेवा करा-करा कर नहीं, वरन् घर में सब की सेवा कर कर के, शुश्रुषा कर-कर के अपने को निहाल समझूँगा। यह सब कुछ देख-सुन कर मेरी माँ गद्गद् होगी, प्रसन्न और तृप्त होगी, मुझे हृदय से लगा-लगा कर प्यारे प्रभु का धन्यवाद भी करेगी और मन ही मन फूली भी नहीं समायेगी। यह सब वह इसलिए करेगी कि मैं उनकी भावनाओं की एक साक्षात् मूर्त्ति होऊँगा, उनकी हृदय की भावनाओं से तरंगित होने वाला, उनकी ऊँची अभिलाषाओं के अनुसार नाचने वाला एक प्यारा पुत्र बन जाऊँगा। यह सब होने पर ही वेद का

उपर्युक्त वाक्य ([पुत्रः] माता भवतु सम्मनाः) पुत्र माता से एक मन वाला हो, सार्थक होगा। और तब मेरी माँ 'पुत्' नाम के नरक से तर जायेगी जिस में कि उस का पुत्र बिगड़ जाता है और माँ उस समय उसकी करतूतों को देख-देख कर और सुन सुन कर कल्पती रहती है। तब मैं अपनी माँ से एक मन वाला हुआ-हुआ, माँ के समान मन वाला हुआ-हुआ अपनी उस प्यारी माँ को देख-देख कर तृप्त होता रहूँगा और वह मुझे निहार-निहार कर गद्गद् होती रहेगी। तब माँ मुझ जैसे पुत्र को पाकर प्रभु के प्रति कृतज्ञता से विभोर हुई-हुई उसके धन्यवाद के गीत गाती रहेगी और मैं अपनी ऐसी उत्तम माँ को पाकर कृतज्ञता से भरपूर हृदय से प्राणप्रिय प्रभु का धन्यवाद करता रहूँगा, यह विचार कर कि भगवान् ने मुझे ऐसी दिव्य माँ दी है। दिल्ली में एक माँ प्रतिदिन मन्दिर जाती थी। वहाँ उसको पंखे का अभाव दीखा, तो वह चुप-चाप घर आकर अपने छोटे पुत्र को कहती है कि ''बेटा मेरा मन करता है कि मैं एक पंखा वहीं लगवा दूँ।'' वह बेटा यद्यपि अपने बड़े भाई की अपेक्षा बहुत निर्धन था, पर था वह बड़ा मातृभक्त और माँ के समान मन वाला, माँ से एक मन वाला। अतः वह झट बोला ''माँ! आज ही वह लग जाएगा।'' कल जब तू माँ, मन्दिर में जाएगी, तो पंखा तुझे वहाँ लगा हुआ मिलेगा। दूसरे दिन माँ मन्दिर गई, तो वहाँ उसने पंखा देखा, तो वह बड़ी प्रसन्न हुई। पर घर आकर वह बेटे से बोली कि-''बेटा मैंने यह पंखा नहीं सोचा था, फलाँ पंखा सोचा था।'' इस पर पुत्र बोला-''माँ जी! चिन्ता मत करो, कल आपको वही पंखा वहाँ लगा हुआ मिलेगा।'' दूसरे दिन माँ मन्दिर गई तो वह मन ही मन बेटे को आशीर्वाद देते हुए ऐसे अच्छे पुत्र के लिए प्रभु को धन्यवाद दिया, और घर आकर बेटे को बहुत प्यार किया और रोम-रोम से उसको आशीर्वाद दिया। माँ जब वेदानुसार अपने पुत्र को अपने समान मन वाला, अपने साथ एक मन वाला देखती, सुनती है, तब वह कितनी प्रसन्न और खुश होती है, उसके हृदय से बच्चे के लिये क्या-क्या आशीर्वाद निकलता है, यह केवल वही जानती है। तभी तो वेद ने कहा है कि पुत्र को चाहिये कि वह माँ के साथ समान मन वाला हो।

षष्ठ रश्मि

जा॒या पत्ये॒ मधु॑मतीं॒ वाचं॑ वदतु शन्ति॒वा॒म्।

–अथर्व० ३.३०.२

अन्वयार्थ–(जाया पत्ये मधुमतीं शन्तिवां वाचं वदतु) पत्नी पति के लिए मधुमयी शान्तियुक्त वाणी बोले।

पत्नी को चाहिए कि वह पति से मधुमयी शान्तिमयी वाणी से ही बोले। और पति को भी चाहिये कि वह भी पत्नी से जब बोले तो मधुमयी शान्तिमयी वाणी से ही बोले।

इस प्रकार जाया और पति अर्थात् पत्नी और पति जब परस्पर माधुर्ययुक्त शान्तिमयी वाणी बोलेंगे तो इस से उनकी शक्ल और अक्ल दोनों सही–सलामत बनी रहेंगी, उनकी आकृति और प्रकृति (=स्वभाव वा बुद्धि) ठीक–ठाक बनी रहेगी। और स्वभाव सुन्दर बने रहेंगे।

नारी और नर–पत्नी और पति जब मन से यह सोच लेंगे–विचार लेंगे, निश्चय कर लेंगे कि उन्हें वेद के आदेशानुसार परस्पर मधुमयी वाणी ही बोलनी है। अर्थात् मधु–शहद के समान मीठी और दोष निवारक तथा चित्तरूपी भूमि पर सुख–शान्ति की वर्षा करके उसको हरा–भरा करने वाली वाणी ही बोलनी है, तो फिर निःसन्देह उसके जो सुखद परिणाम होने चाहियें, वे अवश्य होंगे, तथा वे दोनों उनको देख–देख कर कृतकृत्य होंगे।

ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ८५ का ४४वाँ मन्त्र है जिसमें नारी को उपदेश दिया गया है–

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। अघो॒रच॑क्षुरपतिघ्न्येधि शि॒वा प॒शुभ्यः॑ सुमना॑ सुवर्चाः॑। वी॒रसू॑र्देवृका॑मा स्यो॒ना श॒ न्नो॑ भव द्वि॒पदे॒ शं चतु॑ष्पदे॒॥

–ऋ० १०.८५.४४

हे नारि! सर्वरक्षक प्राणाधार दुःखविनाशक, सुखस्वरूप, सब सुखों के देनेहारे उस परमपिता परमेश्वर की अनुकम्पा से तू पति की कभी भी हिंसा न करना। मुख से कड़वे बोल आदि, अन्य नाना प्रकारों से हिंसा करने की बात तो दूर रही, तू तो

सदा अघोरचक्षु रहना, अर्थात् अपनी आँखों में भी क्रोध के कारण कभी लाली मत आने देना। इतना ही नहीं, तू तो इस से भी आगे बढ़कर सुमनाः–सुन्दर मन वाली, तेजोमयी, वीरों को जन्म देने वाली बन, देवरों को भ्रातृसम घर–परिवार में विद्यमान रखना चाहने वाली बन। फिर मुझे ही नहीं मेरे भाई–बहिनों को ही नहीं, मेरे माता–पिता आदि को ही नहीं, वरन् मेरे घर में विद्यमान रहने वाले इन चोपाओं तक को भी अपने उत्तम शान्त मन से 'स्योना'–सुख देने वाली और शिवा–उन सब का सदा कल्याण करने वाली बन।

वेद के उपर्युक्त मन्त्र का यह उपदेश कितना सारगर्भित है कि वह 'अपतिघ्नी' हो, पति की कभी भी हिंसा न करने वाली हो, उस का कभी भी हनन न करने वाली हो। इसका केवल इतना ही अभिप्राय नहीं है कि वह केवल बाह्य दृष्टि से ही हनन–हिंसा न करने वाली हो, यहाँ तक कि उसका मन भी ऐसा अहिंसक हो जाए कि उसकी आँखों में भी फिर अपने पति एवं उसके परिवार के अन्य सदस्यों के प्रति क्रोध के कारण कभी लाली न आने पाए। तभी तो उसको वेद में 'अघोर–चक्षु' कहा गया है। यदि सचमुच वह वेद के इस मन्त्रानुसार 'सुमना'–सुन्दर मन वाली बन जायेगी तो फिर आँखों में क्रोध के कारण लाली आने की तो बात पृथक् रही वहाँ से तो फिर उलटा स्नेह के स्रोत प्रवाहित होने लगेंगे। तब फिर वह केवल अपने पति के लिए ही नहीं वरन् उसके सब परिवार के सदस्यों के प्रति भी स्योना सुखदायिनी बन जायेगी, शिवा–कल्याणकारिणी बन जायेगी। तब वह सहज ही सूनृता बन जायेगी, अर्थात् सब के प्रति उसके मुख से फिर सत्य और मिठास से युक्त वाणी प्रवाहित होने लगेगी। इसी सहज स्वाभाविक दिव्य व्यवहार को प्रभु हर घर–परिवार में देखना चाहता है। तभी तो वेद के द्वारा वह हमें यह उपदेश देता है कि–'पत्नी पति के प्रति जब भी बोले तो वह शान्तिमयी मधुरवाणी ही बोले। और ऐसा ही शान्त मधुर व्यवहार पति को भी पत्नी के प्रति सदा करते रहना चाहिए।' वेद ने दम्पती को, 'जाया–पति' को यह आदेश, यह उपदेश क्यों दिया, इसलिए कि 'पत्नी–पति' के इस व्यवहार का जहाँ उनकी आकृति और प्रकृति पर, उनकी शक्ल और

अक्ल पर, उनके बाह्य व्यवहार और आन्तरिक स्वभाव पर, उनके मन और मस्तिष्क पर बहुत सुन्दर प्रभाव पड़ता है वहाँ इस का परिवार मे आने-जाने वाले महानुभावों पर तथा विशेषकर आने वाली पीढ़ी पर, आने वाली सन्तति पर बड़ा ही उत्तम प्रभाव पड़ता है। नारी नर के, जाया-पति के इस शान्तिमय मधुर प्रिय व्यवहार से जो घर-परिवार का Invironment वातावरण बनाता है, वह बड़ा ही निराला होता है। बच्चे मूकरूप से इससे इतने प्रभावित रहते हैं कि उनके हृदय में सहज ही अपने 'जननी-जनक' अपने 'माता-पिता' के प्रति बड़ी श्रद्धा हो जाती है। जिस घर में ऐसा नहीं हो पाता, वहाँ का वातावरण बहुत ही खराब रहता है। जैसे कि एक परिवार में गृहपति रात को घर लेट आया। पत्नी ने उठकर भोजन तो उसके लिये परोस दिया, पर दाल, सब्जी, रोटी आदि सब कुछ ठण्डा ही था। पति ने कहा "यह भोजन तो बिल्कुल ठण्डा है, जरा गर्म कर दो। पत्नी तो पहले से ही गुस्से में थी, क्योंकि पति देव आज बड़ी देर से आए।" अतः क्रोध के कारण न तो अब वह स्योना-सुखदायिनी ही रह पायी, और न ही वह अब शिवा कल्याणकारिणी। इसलिए उसने उत्तर दिया, 'सुबह से बीस बार तो मैं चूल्हा जला चुकी, अब आप ही बताओ, ११ बजे हैं आप को तो अपनी गप्पों से ही फुरसत नहीं है। कब तक चूल्हे में मैं अपना सिर दिए रहूँगी यह सुनकर पति से भी अपनी त्रुटि को हृदय से अनुभव करते हुए भी धैर्य और शान्तिपूर्वक चुप-चाप नहीं रहा गया। अतः वह आग-बबूला होकर बोला कि-"आग लगे ऐसे भोजन को, सारा दिन मेहनत करते हैं, इतने पर भी यदि गर्म भोजन हमारे नसीब में नहीं है, तो क्या यह कुछ जीवन है!' यह लो अपनी रोटी, मैं होटल में चला जाता हूँ। अभी बारह-एक बजे तक तो वे खुले ही रहते हैं।" यह कहते हुए थाली को वह परे फैंक कर होटल की ओर चल दिया। नारी तो पहले से ही घोरचक्षु, अस्योना और अशिवा बनी हुई थी। अतः वह भी बोली-जहाँ आपकी मरजी हो, वहाँ भोजन खाओ, मुझे भी कोई सिर्फ यह भोजन बनाने का ही काम थोड़े है, और भी अनेकों मेरे काम हैं। सारा-सारा दिन यहीं मैं चूल्हा फूँकती रहूँ तो फिर और कार्य कौन करेगा, यह

यह कहती हुई यह तो सो जाती है। और वह भी बाहर होटल में भोजन खाकर चुपचाप जला-भुना हुआ-हुआ-सा अपनी खाट पर आकर सो जाता है। इनके इस व्यवहार का इनके घर परिवार के वातावरण पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ता है। ऐसी ही एक बहन ने मुझे कहा कि-"भाई साहब। इस विकृत स्थिति को देखकर जब हमारा ही पुत्र हमें समझाने लगता है, और कभी-कभी जब हमें वह यहाँ तक कह देता है कि-'माता जी! जब पिताजी नहीं मानते, तो आप ही मान जाएँ, या हे पूज्य पिता जी! यदि माता जी नहीं शान्त होती, तो आप ही कम से कम शान्त हो जाईये।" तो ऐसे समय में भले ही हम गुस्से में हों, और गुस्से में आकर हम एक दूसरे से कुछ का कुछ कहे जा रहे हों, पर उस बेटे के सम्मुख भीतर ही भीतर हम अत्यन्त लज्जा का अनुभव कर रहे होते हैं इत्यादि।"

इसके विपरीत एक दूसरा घर है। उसमें भी गृह-स्वामी जब घर में लेट आता है, तो झट नारी उठकर उसको भोजन परोसती है। थोड़ा बहुत कुछ थाली में परोस कर शेष सब कुछ जब वह गर्म करने के लिए आग जलाती है, तो इतने में बच्चा जाग जाता है। वह रोने लगता है। वह झट बच्चे को गोद में ले लेती है और तबे पर गर्म करने के लिए रोटी, सब्जी आदि रखती है। उधर बच्चा बराबर रोता जाता है। उसके रोने से माँ ने ऐसा अनुभव किया जैसे कि उस बच्चे के पेट में दर्द हो। वह झट घी लेकर जहाँ एक हाथ से उस बच्चे के पेट को मलती है वहाँ दूसरे हाथ से वह रोटी-शाक आदि भी गर्म करती जाती है। तब तक पति को ठण्डी रोटी खाते हुए देखकर नारी कहती है-"पतिदेव! मेरा बहुत बड़ा दुर्भाग्य है कि हृदय से न चाहते हुए भी मैं आप को ठण्डी दाल-रोटी खिला रही हूँ।" यह सुनकर पति बोला-"देवी जी! तेरा दोष नहीं है, दोष तो मेरा ही है कि मैंने व्यर्थ की गप्पों में इतना समय गवाँ दिया, और फिर ११ बजे के बाद ही मैं घर में आया। फिर भी धन्य हैं आप, जो इतनी ठण्ड में भी बिस्तर से उठकर मुझे बड़े स्नेह-सम्मान से भोजन करा रही हैं। फिर उधर बच्चे के पेट में दर्द है, अतः उसका पेट भी मल रही हैं। सचमुच यदि मैं ही समय पर आ जाता, और सब बच्चों के साथ ही मिल-जुल कर समय पर

ही मैं भोजन कर लेता, तो फिर आप की भी नींद न खराब होती, और मैं भी समय पर सो कर प्रातः समय पर ही उठ जाता और अपने दैनिक सन्ध्या–हवन आदि से निवृत्त होकर समय पर ही अपने कार्य पर जा सकने में सहज समर्थ हो सकता। खैर, अब जो हो गया सो हो गया, आगे मैं पुनः ऐसी भूल करने से बचने का पूर्ण प्रयास करूँगा।''

सचमुच जब जाया–पत्नी अपनी न्यूनता–कमी–त्रुटि को अनुभव करती हुई 'सुमना' होकर, 'स्योना' होकर 'शिवा' कल्याण–कारिणी होकर जहाँ पति के प्रति शान्त एवं मधुमय वचन बोलती है, वहाँ वह फिर पति भी अपने ही भीतर झाँक–झाँक कर अपनी ही न्यूनताओं को अनुभव करते हुए नारी के प्रति शान्त प्रिय, एवं मधुमय तथा सहानुभूतिपूर्ण वचन ही बोलने लगता है। फिर इन दोनों के परस्पर इस शान्त, मधुर एवं प्रिय तथा सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार का जहाँ घर–परिवार के वातावरण पर बड़ा ही उत्तम प्रभाव पड़ता है, वहाँ घर में आने–जाने वालों पर भी उसका बड़ा ही अच्छा प्रभाव पड़ता है। यहाँ तक कि जिस नन्हें–मुन्ने बालक का पेट माँ मलती हुई पति की भोजन आदि द्वारा सेवा कर रही थी, उस पर भी उसका अनूठा प्रभाव पड़ता है। तभी तो वेद ने यह आदेश दिया है–यह उपदेश दिया है कि–''पत्नी पति के प्रति शान्तिमय मधुर वचन बोले और पति भी पत्नी के प्रति ऐसा ही मधुर प्रिय व्यवहार करे।''

सप्तम रश्मिः

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्। –अथर्व० ३.३०.३

अन्वयार्थ–(भ्राता भ्रातरं मा द्विक्षत्[1]) भाई भाई से द्वेष न करे, भाई भाई से अप्रीति न करे, शत्रुता न करे, वैर न करे, दुश्मनी न करे।

भाई को चाहिए कि वह भाई से द्वेष न करे, अप्रीति न करे, अर्थापति से यह निकला कि भाई को चाहिए कि वह अपने भाई से प्रीति करे। अर्थात् जब कभी भी वह अपने भाई से मिले तो वह तृप्त हो जाए, वह खुश हो जाए। वह अपने भाई को मिल कर ऐसे तृप्त हो जाए, ऐसे प्रसन्न हो जाए, ऐसे खुश हो जाए, जैसे कि गर्मियों में एक प्यासे व्यक्ति को शीतल जल मिल जाने पर वह तृप्त–प्रसन्न और खुश हो जाता है।

वेद ने यह उपदेश क्यों दिया? इसलिए कि–यदि एक भाई दूसरे भाई को मिले, और उसमें उसके प्रति द्वेष उमड़े–अप्रति उत्पन्न हो। अर्थात् वह उसे देखकर तृप्त न हो, प्रसन्न न हो, खुश न हो, तो फिर भला उसको मिलने पर उसके प्रति उसमें कैसे उत्साह होगा, उसके प्रति उसके हृदय में कैसे प्यार उमड़ेगा, उसके प्रति उसके दिल में कैसे सहानुभूति उत्पन्न होगी और क्या ही वह फिर उसकी सेवा–सहायता कर पायेगा? पर अगर वेद के आदेशानुसार एक भाई दूसरे भाई से द्वेष न करे, अप्रीति न करे, अर्थात् प्रीति करे। कहने का अभिप्राय यह है कि एक भाई को जब दूसरा भाई मिले, तो उसके हृदय में उसके प्रति प्रीति उत्पन्न होनी चाहिए, उसे देखकर उसको तृप्ति मिलनी चाहिए, उसे देखकर उसके हृदय में उसके प्रति प्यार उमड़ना चाहिए, उसे देखकर उसको प्रसन्न होना चाहिए, खुश होना चाहिए।

अब जिसे देखकर मनुष्य तृप्त होता है, प्रसन्न होता है, खुश होता है, तो बड़े भाई होने पर उसका मान–सम्मान करने

---

१. द्विक्षत्–द्विष अप्रीतौ–धातु से बना है।

में, उसको प्रणाम करने में, उसकी सेवा-शुश्रुषा करने में उसकी आव-भगत करने में; और अगर वह छोटा भाई हो, तो उसको लाड़-प्यार करने में, उसकी सेवा-सहायता करने में, उसको खिलाने-पिलाने में, उसको पढ़ाने-लिखाने में, उसकी फीस-फास देने में मनुष्य में बड़ा ही उत्साह बना रहता है। तब मनुष्य सोचता है कि मेरा बड़ा भाई आया है। न जाने इस पूज्य भाई को मैं कहाँ बैठा दूँ, कहाँ घुमा दूँ, कौन से आसन पर बैठा दूँ, क्या खिला दूँ, क्या पिला दूँ, क्या पहना दूँ, क्या-क्या ओढ़ा दूँ, क्या दिखा दूँ, क्या सुना दूँ, कहाँ घुमा-फिरा दूँ, कैसे सेवा-शुश्रुषा करके सिर आँखों पर इसे बैठा दूँ, और अगर वह छोटा है, तो उसको क्या-क्या पढ़ा-लिखा दूँ, उसको क्या-क्या दे, दिला दूँ, उसको लाड-प्यार से क्या-क्या खिला-पिला दूँ, उसको क्या-क्या बना दूँ? यदि वह रुग्ण हो, अस्वस्थ हो वा कमजोर हो वा आर्थिक दृष्टि से हीन हो, तो तब मैं यह सोचता हूँ कि-''न जाने इसको किस बड़े-से-बड़े डॉक्टर-वैद्य-हकीम को दिखाकर इसको औषध-दवा आदि ला दूँ, ताकि मेरा यह पूज्य वा प्रिय भाई तुरन्त नीरोग हो जाए। न जाने कौन-सा ऐसा टानिक इसे खिला-पिला दूँ कि जिससे जल्दी ही यह स्वस्थ हो जाए, सशक्त हो जाए, सबल हो जाए, अगर उसका भाई अच्छा-खासा पढ़-लिख गया होता है, तो फिर वह इसको कार्य व्यापार पर लगाने में जी-जान से प्रयत्न करता है, और अगर इसकी अच्छी-खासी सर्विस लग जाती है वा किसी व्यापार के प्रारम्भ करने पर वह उसमें अच्छा-खासा सफल हो जाता है, तो फिर वह इस के लिए अच्छे कुल की, अच्छे गुण, कर्म और स्वभाव वाली कन्या को खोज-खाज कर खुशी-खुशी इसका विवाह करता है, ताकि इसका घर-परिवार बन जाए, और यह सुख सौभाग्य पूर्वक अपना जीवन व्यतीत कर सके। फिर वह इतना ही करके उसे यों ही नहीं छोड़ देता वरन् वह उसके घर-परिवार में आने वाली कठिनाईयों में भी जी-जान से उस भाई का सहयोग करता है। इसके भाई पर अगर कोई आर्थिक संकट आता है तो यह भाई दिल से उसको इस आर्थिक संकट से भी उभारता है, यदि उस पर कोई शारीरिक रोग वा कष्ट आता है तो वह तब अपना सब काम

छोड़-छाड़ कर उसके साथ चिकित्सालय में जाता है, बड़े-बड़े डॉक्टरों से मिलता-जुलता है, और उसे नीरोग स्वस्थ-सशक्त करने के लिए वह उसके सम्मुख अनुनय-विनय करता है। यह सब दौड़-धूप करने पर जब उसका भाई नीरोग, स्वस्थ हो जाता है, तब फिर वह फूला नहीं समाता है। फिर जब वह पुनः सबल-सशक्त होकर अपने घर-परिवार में बैठ-बैठ कर वा उसके लिए दौड़-धूप कर-कर के अपने सब कर्त्तव्यों का पालन करने लगता है, अपने खेत-खलियानों वा व्यापार-व्यवहारों को सम्भालने में समर्थ हो जाता है, तब यह भाई प्रसन्न होकर प्रभु का धन्यवाद करता हुआ निश्चिन्त होकर अपने घर के व्यक्तियों के प्रति सजग हो जाता है।''

मैंने देखा कि एक परिवार में तीन भाई हैं। बड़े और छोटे ने तो पढ़-लिखकर व्यापार कर लिया और अपना घर-परिवार बसा लिया। दोनों ही अपने घर-परिवार में प्रसन्न थे। मञ्झला भाई कुछ और अधिक पढ़ने-लिखने में लग गया और पढ़-लिखकर उसे एक अच्छी-खासी सर्विस भी मिल गयी। तब दोनों भाई सदा यह सोचते थे कि किसी तरह हमारे इस भाई का घर बस जाए। समय पर इसको खाने-पीने की सब सुख-सुविधा हो जाय, यह घर-परिवार में सुख-सौभाग्य से अपना सारा जीवन व्यतीत कर सके तो उन्हें हार्दिक प्रसन्नता होगी। आखिर एक दिन जब यह सब कुछ हो गया तो इन दोनों भाईयों को बड़ी ही खुशी हुई। आज जब कभी भी ये दोनों अपने इस भाई के घर-परिवार में, इस भाई वा इस भाई के परिवार को देखते हैं, तो ये हृदय से प्रसन्न होते हैं, और भीतर ही भीतर हृदय से प्रभु का धन्यवाद करते हैं।

इसके विपरीत अगर एक भाई दूसरे भाई से द्वेष करे, अप्रीति करे, शत्रुता करे, वैर करे, तो फिर भला वह अपने इस भाई का आदर कर सकता है? उससे प्यार कर सकता है? उसको देख वा सुनकर प्रसन्न हो सकता है? वह तो फिर उसके सुख-सौभाग्य को देख-देख कर वा सुन-सुनकर ईर्ष्या-द्वेष आदि से जलता-भुनता ही रहेगा, उसकी उन्नति वा बढ़ती देखकर तो वह आग-बबूला ही होता रहेगा। तब उसकी शंसा-प्रशंसा करने और सुनने में वह अपना एक क्षण भी लगाने से

बचेगा, पर उसकी निन्दा चुगली करने में और सुनने में अपने कई–कई घण्टे नष्ट करने में भी फिर उसको कोई ग्लानी नहीं होगी। फिर अगर भविष्य में कभी उसके भाई का अमङ्गल होता तो भीतर ही भीतर से इस भाई को प्रसन्नता होगी, खुशी होगी, पर बाहर से लोक दिखावे मात्र के लिए फिर यह मगरमच्छ के आँसू बहाकर सहानुभूति का ही प्रदर्शन करेगा। इस प्रकार कहने को तो ये दोनों परस्पर भाई–भाई होंगे, समय–समय पर लोक दिखावे के लिए ये एक दूसरे के पास भी खड़े वा बैठे होंगे, पर दिल से ये एक–दूसरे के पास बैठना–उठना पसन्द नहीं करेंगे, परस्पर मिलकर खाना–पीना पसन्द नहीं करेंगे, मिल–बैठकर प्रेमपूर्वक बात–चीत करना पसन्द नहीं करेंगे, कहीं बैठ–उठ कर एक दूसरे की शंसा–प्रशंसा सुनना वा करना इन को नहीं भायेगा, हाँ एक–दूसरे की निन्दा करने और सुनने में तब इनको भीतर ही भीतर से एक रस मिलता रहेगा, एक दूसरे की हानि वा अवनति देख–देख वा सुन–सुन कर इनको एक प्रकार की खुशी–सी मिलती रहेगी, तब ये सर्वथा एक–दूसरे से दूर हो जायेंगे, कहीं राह चलते हुए या किसी सामाजिक फँक्शन में एक दूसरे को मिलना वा देखना भी इन्हें भारी पड़ेगा, तब इनके स्त्री–पुत्र आदि भी यदि सौभाग्यवश एक दूसरे को मिलकर प्रसन्न होते होंगे, एक दूसरे से बात–चीत करते हुए खुश होते होंगे, एक दूसरे को खिला–पिला कर प्रसन्न होते होंगे, एक दूसरे की सहायता करके प्रसन्न होते होंगे, वा इनके नन्हें–मुन्हें बच्चे परस्पर खेल–कूद कर खुशी मनाते होंगे, तो तब इन भाईयों को यह सब कुछ भी नहीं भायेगा–यह सब कुछ भी देखना वा सुनना इन्हें नहीं अच्छा लगेगा। ये दोनों भाई तब कुछ ऐसा सोचेंगे वा करेंगे कि जिससे इस घर–परिवार के स्त्री–पुत्र आदियों का प्यार भी समाप्त हो जाए। ये दोनों इस कार्य के लिए अपनी पत्नी एवं पुत्रों को रोकेंगे, टोकेंगे और अगर वे फिर भी नहीं मानेंगे तो ये उन सब पर क्रोध करेंगे, उन्हें पीटेंगे, भले ही उनकी इस वृत्ति–प्रवृत्ति का नारी और स्वच्छ हृदय वाले बालकों पर कितना भी बुरा प्रभाव क्यों न पड़े, वे इसकी परवाह नहीं करेंगे। इस प्रकार घर–परिवार को, उसके स्नेह–सौहार्द को उसके परस्पर प्रेम प्यार,

सहायता–सहयोग को सर्वथा समाप्त करने वाले दुष्परिणामों की सम्भावना के कारण ही से वेद सब को यह सदुपदेश देता है कि–"भाई भाई से द्वेष न करे, अप्रीति न करे, शत्रुता न करे, वैर न करे, वरन् वह उससे प्रेम करे, प्रीति करे, उसकी बढ़ती को देखकर फूला न समाए, उसकी उन्नति को अपने ही घर की, अपने ही कुल की, अपने ही खानदान की उन्नति समझकर उस पर अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव करे।"

जैसे कि हरियाणा में एक किसान, जो कि दसवीं पास था। उसका मित्र जो कि एम० ए० पास कर चुका था। वह आकर उसे कहता है–"नेतराम? तू तो अनपढ़ है, १०वीं पास भी भला कोई पढ़ाई होती है। १०वीं पास तो आज कहीं चपड़ासी भी नहीं लगते। मुझे देख, मैं ने सिर्फ बी० ए० ही नहीं किया बल्कि एम० ए० भी पास कर लिया है।" तब उसका वह कृषक मित्र कहता है–"भैया! तू बता एम० ए० बड़ा होता है या डबल एम० ए०?" तो इस पर वह बोला–"नेतराम! बड़ा तो भई, डबल एम० ए० ही होता है।" तो इस बात पर नेतराम बोला–"मित्रवर! तू तो उससे भी नीचे है जो मुझे ऊँचा मानता है। सुन भाई, मेरा छोटा भाई डबल एम० ए० ही है। जब वह प्रातःकाल उठता है, तो वह मुझे अपने से बड़ा मानकर, मुझे पूज्य मानकर, बड़ी श्रद्धा और प्रेम से वह मुझे प्रणाम करता है। अब तू सोच कि वह मुझे बड़ा और पूज्य मानता है और डबल एम० ए० होने के कारण तू उसे अपने से बड़ा और योग्य पूज्य विद्वान् मानता है, तो अब तू बता कि तू कैसे मेरे से बड़ा हुआ?" तू तो मेरे छोटे भाई से भी छोटा हुआ, जो कि मुझे अपने से बहुत बड़ा और पूज्य मानकर मेरा आदर–सत्कार करता है। इसलिये तू तो मेरे छोटे भाई से भी छोटा हुआ। तू तो उसके बराबर भी नहीं बैठ सकता! मेरे बराबर तो तू बैठ ही कैसे सकता है!

छोटे भाई ने जब यह सुना तो वह बड़ा ही प्रसन्न हुआ, बड़ा ही खुश हुआ, और बोला कि–"ऐसे पूज्य भाई के पावन चरणों में अपना यह ज्ञान से भरा हुआ सिर धर कर जब मैं प्रणाम करता हूँ और वे जब मुझे दिल से आशीर्वाद देते हैं, और सच्चे हृदय से भगवान् से जब वे प्रार्थना करते हैं कि वह

प्रभु ऐसी कृपा करें कि जिससे मेरी विद्या बढ़े, मेरी आयु बढ़े, मेरा यश बढ़े, मेरा बल बढ़े, मैं सब तरह से आगे बढ़ूँ, ऊपर ऊठूँ, आदि–आदि, तो उस समय मुझे इतना अच्छा लगता है कि मैं बता नहीं सकता! उस समय मैं इतना खुश हो जाता हूँ कि मेरी खुशी फिर मेरे में समाती नहीं, मुझे उस समय अपने दिवंगत पिता का भी भान नहीं रहता और मन ही मन में मैं सोचने लगता हूँ कि जो पितृ–तुल्य भाई स्वयं १०वीं पास होने पर भी मुझ सरीखे पुत्र तुल्य छोटे भाई की विद्या पर, योग्यता पर गर्व अनुभव करता हुआ फूला नहीं समाता, उस दिव्य भाई पर मैं अपना सर्वस्व क्यों न वार दूँ।''

ऐसे ही एक परिवार में दो भाई थे जो वैसे तो उपर्युक्त वेदोपदेश के अनुसार बड़े ही प्रेम से अपना जीवन व्यतीत कर रहे थे, पर न जाने क्यों एक दिन बड़े भाई ने अपने छोटे भाई को बुलाकर यह कह दिया कि–''भैया मेरा विचार है कि मैं भी घर–परिवार वाला हो गया हूँ, और अब तू भी गृहस्थ हो गया है। अतः अब हम दोनों अलग–अलग हो जायें।'' इस पर छोटा भाई बोला–''पूज्य भैय्या! क्या बात है ? क्या मेरी मातृतुल्य भाभी ने कुछ कहा है, या मेरे पितृतुल्य पूज्य भाई के दिल में कुछ अन्तर आ गया है ? मेरी इस पत्नी ने कुछ ऐसी बात कर दी है या फिर मेरे किसी व्यवहार से आप को ऐसा अनुभव हुआ है ?'' बड़ा भाई बोला–''भैय्या! अब कुछ भी समझ लो, अब मन में जब यह आ ही गया है, तो अब अलग ही हो जाएँ तो ठीक है।'' छोटा भाई बोला–''भैय्या! माता–पिता के संसार से चले जाने पर मातृतुल्य पूज्य भाभी जी से एवं पितृतुल्य आप से जो मुझे प्यार मिला है, वह इतना अद्वितीय है कि मुझे कभी अपने माँ–बाप का अभाव ही नहीं खटका, इसलिए मुझे उस मातृतुल्य भाभी और पितृतुल्य भाई से अलग होना बहुत ही कठिन लगता है। पर अब जब आपने ऐसा सोच ही लिया है, तो फिर अब पृथक् होने के सिवा कोई और चारा भी तो नहीं है।'' तो ''सुनो भैय्या! मुझे तो कुछ चाहिए ही नहीं, न जमीन–जायदाद, न धन–वैभव, न ही मकान–दुकान...। पर एक बात मैं सोचता हूँ, भैय्या! अगर मैं और मेरी पत्नी यों ही घर से खाली हाथ चले गये तो संसार न जाने आपकी क्या–क्या

बुराई करे, यह मैं नहीं कह सकता। पर आपकी बुराई, निन्दा किसी तरह भी मुझ से सहन नहीं होगी। क्योंकि मैं जानता हूँ कि आप क्या हैं। अतः मैं आँखें बन्द कर लूँगा, और यह भी अगर सचमुच दिल से मेरी पत्नी होगी, तो यह भी मेरी तरह आँखें मूंद लेगी। आप जो भी कुछ मेरी ओर डाल देंगे, उसे ही अपनी मातृतुल्य भाभी और पितृतुल्य भाई का प्रसाद समझ कर मैं उठा लूँगा, और यहाँ से चल दूँगा। भगवान् ऐसी–कृपा करे कि मैं मन से भी कभी इस देवता स्वरूप माँ–बाप के समान आप दोनों की कभी निन्दा न करूँ, सदा आप के उपकारों के प्रति कृतज्ञ रहूँ। पर हाँ एक बात है कि जब कभी भी हमारी रसोई में आटा–दाल, शाक–भाजी न रही, तो मैं और मेरी पत्नी पुत्र–पुत्री तुल्य निःसंकोच अपने बड़े भाई के घर दौड़े चले आयेंगे और भूखे–प्यासे बच्चों के समान अपनी मातृतुल्य भाभी जी की रसोई में घुस जायेंगे और कहेंगे–''भाभी! नहीं नहीं हम कहेंगे–हमारी देवता स्वरूप माँ! तू भोजन बना, और हमें एक बार फिर उसी प्यार से और उसी लाड से खिला, जैसे कि तू पहले हमें खिलाया करती थी।''

''मेरे पूज्य पितृतुल्य भैय्या एवं मातृतुल्य आदरणीय भाभी! मुझे संसार में धन–दौलत, जमीन–जायदाद आदि की जरा भी भूख नहीं है। हाँ भूख है तो केवल एक, वह है मातृ–पितृ सदृश आप दोनों की स्नेह से परिपूर्ण पावन छत्र–छाया की!''

यह सब सुनकर आर्द्रचित्त हुआ–हुआ पितृतुल्य बड़ा भाई दौड़ा और उसने अपने पुत्र तुल्य कृतज्ञ छोटे भाई को दिल से लगा लिया और बोला–''मेरे प्यारे भैय्या! जब तक मैं जीऊँगा, संसार की कोई भी ताकत मुझसे अपने इस प्यारे और सब जग से न्यारे पुत्र तुल्य कृतज्ञ छोटे भैय्या को पृथक् नहीं कर सकती....।'' उधर भाभी ने अपनी पुत्रवधू तुल्यया देवरानी को हृदय से लगा लिया और बोली–''प्रभुवर! मुझे वह दिल देना कि मैं इसको आजीवन अपने आङ्गन की शोभा समझकर सिर–आँखों पर सदा बिठाए रखूँ।''

इस प्रकार यदि माता–पिता के अभाव में भाई–भाई वेदोपदेश के, ढंग में ढले हुए हो रंग में रंगे हुए हों, तो फिर भला उनके प्रेम में खटास कैसे पैदा हो सकती है! वे तो फिर

सदा राम–लक्ष्मण सम सदा एक रहेंगे और संसार के लिए सदा प्रेरणा के स्रोत ही बने रहेंगे।

यह है उपर्युक्त वेदोपदेश का आशय, यह है भगवान् के उपर्युक्त आदेश का अभिप्राय, जिससे कि भाई–भाई इस दुनिया में रहकर परस्पर स्वर्ग जैसा सुख भोगते हुए जहाँ अपना लोक सुन्दर बनाते हैं, वहाँ अपने परलोक को भी दिव्य बनाने में समर्थ होते हैं। भगवान् सभी भाईयों को ऐसी सद्बुद्धि प्रदान करे कि वे इस वेदोपदेश को हृदयङ्गम कर तदनुसार आचरण करें।

अष्टम रश्मिः

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।

–अथर्व० ३.३०.३

अन्वयार्थ–(भ्राता भ्रातरं मा द्विक्षत्) भाई को चाहिये कि वह अपने भाई से द्वेष न करे, अप्रीति न करे, वैर न करे, शत्रुता न करे, **(उत स्वसा स्वसारं मा द्विक्षत्)** और बहिन को भी चाहिये कि वह अपनी बहिन से द्वेष न करे, अप्रीति न करे, वैर न करे, शत्रुता न करे।

इस मन्त्र में जैसे वेद ने सब भाईयों को यह उपदेश दिया है, यह आदेश दिया है कि वे परस्पर एक–दूसरे से द्वेष न करें, अप्रीति न करें....। वैसे ही सब बहनों को भी यह उपदेश दिया है, यह आदेश दिया है कि वे भी परस्पर एक–दूसरे से द्वेष न करें, अप्रीति न करें, शत्रुता न करें, वैर न करें।

अब अगर सचमुच वेद के इस उपदेश के आधार पर, वेद के इस आदेश के अनुसार एक बहिन दूसरी बहिन से द्वेष न करे, अप्रीति न करे, अर्थापत्ति से यह निकला कि वह अपनी बहिन से प्रीति करे, अर्थात् वह अपनी बहिन को देखकर वा सुनकर तृप्त हो, प्रसन्न हो, खुश हो, तो फिर सहज ही जो बहिन अपनी बहिन को देखकर तृप्त–प्रसन्न वा खुश होगी वा फूली नहीं समायेगी, तो फिर सहज ही अगर वह बड़ी बहिन होगी, तो वह यह सोचेगी कि–"न जाने इस अपनी प्यारी छोटी बहिन को मैं कितना प्यार करूँ, कितना स्नेह करूँ, कितना लाड करूँ, न जाने इसको मैं क्या खिला दूँ, क्या पिला दूँ, क्या पहना दूँ, क्या दे दूँ आदि–आदि।" इसी तरह यदि किसी छोटी बहिन को अपनी बड़ी बहिन मिलती है और वह उससे द्वेष नहीं करती, अप्रीति नहीं करती, अर्थापत्ति से अगर वह उसको देख वा सुन कर उससे प्रीति करती है, उसको देख वा सुन कर वह तृप्त होती है, प्रसन्न होती है, खुश होती है, फूली नहीं समाती है, तो फिर सहज ही वह अपनी मातृ तुल्य बड़ी बहिन को सिर आँखों पर बैठाना चाहती हुई सोचती है कि–"न जाने इसको मैं

आदर–सम्मान पूर्वक कहाँ बैठा दूँ, क्या खिला दूँ, क्या पिला दूँ, कहाँ सुला कर विश्राम करा दूँ, आदि–आदि।''

सचमुच वेदोपदेश के अनुसार, इस वेदोपदेश के अनुसार अगर बड़ी बहिन अपनी छोटी बहिन से द्वेष नहीं करती अर्थात् वह उससे प्रीति करती है, उसको देख वा सुन कर तृप्त होती है, प्रसन्न होती है, खुश होती है, तो फिर जैसे पिता के अभाव में एक बड़ा भाई पितृ तुल्य होने से अपनी उस प्रिय छोटी बहिन को पिता के समान पालता–पोसता है, पढ़ाता–लिखाता है, और पिता के तुल्य ही वह उसके उज्वल–सुखद भविष्य के लिये, उसके सुख–सौभाग्य से सम्पन्न भावी उत्तम जीवन के लिये वह जी–जान से प्रयत्न करता है। ऐसे ही माता पिता एवं बड़े भाई आदि के अभाव में जो बड़ी बहिन होती है, वह भी यदि इस वेदोपदेशानुसार, इस वेदादेशानुसार उस अपनी प्रिय छोटी बहिन को देख वा सुन कर द्वेष नहीं करती, अप्रीति नहीं करती, अर्थात् प्रीति करती है, उसको देख वा सुन कर सदा तृप्त होती है, प्रसन्न होती है, खुश होती है, तो फिर वह बड़ी बहिन ही मातृ रूप धारण करके अपनी छोटी प्रिय बहिन को पुत्री तुल्य पालती–पोसती है, पढ़ाती–लिखाती है, और उसके उज्वल–सुखद भविष्य के लिये अच्छे से अच्छे वर की तलाश करती है–अच्छे से अच्छे घर–परिवार की खोज करती है, और वह उस अपनी लाडली प्रिय पुत्री तुल्य बहिन के लिये उसकी आन्तरिक भावनाओं के अनुरूप ही वर खोजती है, जो कि न कभी अण्डे–मांस खाता हो, न ही कभी बीड़ी–सिगरेट–शराब आदि पीता हो, वरन् वह तो फिर उस से भी अधिक पढ़ा–लिखा हो, उससे भी अधिक बुद्धिमान् और समझदार हो, आस्तिक हो, अर्थात् ईश्वर और धर्म में जिस की प्रगाढ़ आस्था हो, प्रति दिन जो सन्ध्योपासना करता हो, यज्ञादि शुभ कर्मों में भी वह बहुत रुचि रखता हो, इत्यादि। यह सब कुछ वह बहिन करती है, जो एक ही माँ से जन्म लेने के कारण कहने को तो उसकी बड़ी बहिन होती है पर माँ के अभाव में वह जो भी उत्तरदायित्व निभा रही होती है तो उसको देख–देख कर लोग प्रेरणा लेते हैं...। छोटी बहिन भी तब कहने को तो उसकी छोटी बहिन होती है, पर उसके मातृ तुल्य व्यवहारों

को देख–देखकर उसके दिल में उसके प्रति तब ऐसी श्रद्धा उत्पन्न होने लगती है जैसे कि वह उसकी बहिन न होकर उसको जन्म देने वाली साक्षात् माँ ही हो, उसका पतिदेव जैसे कि उसका जीजा न होकर साक्षात् पिता ही हो, उनके पुत्र कहने को तो उसके भाञ्जे हों पर व्यवहारों में वे साक्षात् भाई ही होते हैं, लेखक ने अनेकों बहिनें ऐसी देखी हैं जिन्हें अपनी बड़ी बहिनों ने अपने सहयोगी पति के साथ मिलकर मातृ–पितृ तुल्य पाला–पोसा, पढ़ाया–लिखाया, संरक्षण दिया, और पुत्री तुल्य उस बहिन के उज्वल सुन्दर भविष्य के लिए घर–वर खोज कर उसका विवाह कर दिया। और इतना ही नहीं, आज तक भी वे उसके प्रति मातृ–पितृ–तुल्य कर्त्तव्यों को निभा रहे हैं।

इस के विपरीत अगर एक बहिन दूसरी बहिन से द्वेष करती है, अप्रीति करती है, शत्रुता करती है, वैर करती है, दुश्मनी करती है। अर्थात् वह उसको देख वा सुनकर तृप्त नहीं होती, प्रसन्न नहीं होती, खुश नहीं होती, तो फिर उस बहिन को अपनी उस बहिन से मिलना भी बड़ा भारी लगता है, उसके साथ बात करना भी उसे समय बर्बाद करना ही लगता है, उसको खिलाना–पिलाना, पालना–पोसना उसे फिर बहुत बड़ा भार प्रतीत होता है, फिर यही कहा जाता है कि–''हम क्या करें, इसके अपने कर्म ही ऐसे होंगे जो यह इस प्रकार बिना माता–पिता के संरक्षण के रह गयी। हम से तो अपने से उत्पन्न हुए जो दो–तीन बच्चे हैं, उन्हीं का पालन–पोषण आदि ही नहीं हो पा रहा है, इसको हम क्या सम्भालें। तो इस प्रकार द्वेष–अप्रीति वह चीज जिसके कारण फिर इस छोटी बहिन को भी अपना बड़ा भाई भाता नहीं वा बड़ी बहिन भाती नहीं, न उसको देखना उसे भाता है, न उससे बात करनी उसको अच्छी लगती है, न ही उसको कुछ खिलाना–पिलाना वा उसका आदर–मान करना उसको सुखद प्रतीत होता है। वह तो फिर उसको जरा भी देखने–भालने, मिलने–जुलने से भी कतराती है, उसके सम्बन्ध में किसी से फिर बात करना भी उसको भाता नहीं। यही स्थिति बड़ी बहिन की भी लगभग हो जाती है। तो इस प्रकार द्वेष वह चीज है, अप्रीति वह चीज है, जो दोनों को

परस्पर हृदय से इतना दूर कर देती है कि फिर उस दूरी को स्केल पैमाने से नापा नहीं जा सकता भूलचूक से वे दोनों कभी किसी सभा–सोसायटी में कही परस्पर मिल भी गयी, एक–दूसरे के सम्मुख आ भी गयी तो भी उनके हृदय की दूरी उन्हें एक–दूसरे से स्नेह पूर्वक मिलने नहीं देती, मिल बैठकर एक–दूसरे का कुशल–मंगल नहीं पूछने देती, एक–दूसरे को मिल–बैठकर कुछ खाने–पीने नहीं देती, एक–दूसरे को प्रेमपूर्वक कुछ लेने–देने नहीं देती, एक–दूसरे के बाल–बच्चों का हाल–चाल नहीं पूछने देती, एक–दूसरे के दुःख–सुख में एक–दूसरे को इमदाद–सहायता–सहयोग नहीं करने देती, आदि आदि।"

वास्तव में स्वसा कहते हैं बहन को जिसका कि अर्थ होता है–"**सु–सुष्ठुतया (असु–क्षेपणे) अस्यते क्षिप्यते–स्नेहपूर्वक प्रदीयते पर कुलेषु वा या सा स्वसा।**" अर्थात् अच्छी तरह से पाल–पोस कर मर्यादा पूर्वक दूसरे कुलों में प्रदान किया जाता है, जिसे वह स्वसा कहलाती है। यदि एक बेटी ऐसी है जिसके माता–पिता वा पिता कभी नहीं रहते, तो पिता के अभाव में उसका पितृ तुल्य बड़ा भाई वा मातृ तुल्य बड़ी बहिन उसको स्नेह–लाड पूर्वक अपनी सन्तति सम पढ़ा–लिखा कर उसके हाथ पीले कर के उसका अच्छे घर–परिवार में विवाह कर देते हैं।

इस प्रकार माता, पिता, भ्राता आदि के विषय में बहुत कुछ सोचने–विचारने पर भी हर बेटी, हर पुत्री वा हर स्वसा, हर बहिन अपने–अपने कर्मों के अनुसार ही अगले घर–परिवार को प्राप्त होती है। एक बहिन एक घर–परिवार में जाकर अपने पितृ–कुल से बढ़कर बहुत धन–वैभव, और बहुत सुख–सौभाग्य से सम्पन्न हो जाती है और दूसरी अपने कर्मानुसार किसी ऐसे घर–परिवार में चली जाती है जहाँ कि जीवन निर्वाह ही बड़ी कठिनाई से होता है, तो ऐसी अवस्था में भी बहिन बहिन से द्वेष न करे, अप्रीति न करे, ईर्ष्या न करे, घृणा न करे, नफरत न करे। वह यही सोचे कि उसको अपने कर्मों के अनुसार ही ऐसा सुयोग्य वर मिला, अच्छा धन–वैभव, सुख–सौभाग्य से सम्पन्न परिवार मिला और मुझे जो यह घर–परिवार वा गुजारा मात्र जिसमें चल सके, ऐसा घर मिला, यह भी अपने पिछले ही कर्मानुसार मुझे मिला है। फिर भी वह मेरी बहिन है, अगर वह

मेरे से निम्न स्थिति में है तो मैं उससे घृणा न करूँ, वरन् उससे और भी बढ़कर प्यार करूँ, उसकी कठिनाईयों में दिल से उसके साथ स्नेह–सहानुभूति और सहयोग करूँ और अगर वह उद्यावस्था में है, धन–वैभव से सम्पन्न है, उसके पुत्र ही पुत्र हैं, मेरी केवल लड़कियाँ ही लड़कियाँ हैं वह बड़े मजे में है, तो भी मैं उससे ईर्ष्या न करूँ, उससे डाह न करूँ, उसके धन–वैभव एवं पुत्रों को देख–देख कर जलूँ नहीं, कुढ़ूँ नहीं, वरन् उस बहिन का यह सब देख–देख कर सदा प्रसन्नता का अनुभव करूँ, हमेशा खुशी महसूस करूँ, प्रभु का हृदय से धन्यवाद करूँ कि चलो एक बहिन तो ऐसी है जो सब प्रकार से प्रसन्न है, खुशहाल है, सुख–सौभाग्य से सम्पन्न है। उसके यहाँ कार भी है, उसकी अपनी कोठी भी है। भगवान् ने बच्चे भी उसे बड़े प्यारे–प्यारे दिये हैं, जो बड़े ही अच्छे हैं, अच्छे खासे स्कूल में पढ़ रहे हैं, सुयोग्य हैं। भगवान् की कृपा से मेरी बहिन को कुछ आर्थिक कठिनाईयाँ भी नहीं हैं, आदि–आदि। उस बहिन के बढ़ते हुए यश को देख कर वह बहिन सदा यही अनुभव करती है जैसे कि उसका अपना ही यश बढ़ रहा हो। उसके बढ़ते हुए धन–वैभव, सुख–सौभाग्य को देखकर वह सदा यही अनुभव करती है कि–जैसे उसका अपना ही धन–वैभव, सुख–सौभाग्य बढ़ रहा हो। उसकी होती हुई प्रशंसा सुनकर भी वह ऐसा ही अनुभव करती है जैसे कि उसकी अपनी ही प्रशंसा हो रही हो। और अगर उसके विपरीत वह उसके उस बढ़ते हुए धन–वैभव, सुख–सौभाग्य, जमीन–जायदाद, कार–कोठी, पुत्र–पौत्री आदि को देख–देखकर उससे ईर्ष्या करती है, कुढ़ती है, वा द्वेष करती है, अप्रीति करती है वा उसे देख–देख कर अपने भाग्य को कोसती है, तो फिर वह इस बहिन से स्नेह की बात तो दूर रही, यह तो फिर उसकी तब शक्ल भी नहीं देखना चाहेगी, फिर तो वह सदा उसकी निन्दा करेगी और कहेगी कि–उसको अपने धन–वैभव का, कार–कोठी का, अपने पुत्र–पौत्रों का, अपने पति–पुत्र के पदों एवं प्रतिष्ठाओं का बड़ा अभिमान है, बड़ा गर्व है। ऐसा लगता है कि जैसे उसी के पास ही यह सब कुछ आ गया हो। पर इस धरती पर इनसे भी बढ़कर लाखों–करोड़ों ऐसे बड़े लोग हैं। यह अपने को समझती

क्या है ? और इसके पास यह सब कुछ अगर है भी और हमारे पास नहीं भी है, तो हम कुछ इस से माँग कर थोड़ी ही खाते हैं। अपनी मेहनत–मजदूरी करते हैं, खून–पसीना एक करते हैं, फिर जो भी कुछ हमें मिलता है, उसी में ही हम अपना काम चलाते हैं। हमने जीवन में तो कभी चार पैसे भी इससे नहीं माँगे होंगे! हाँ छोटी बहिन होने के कारण कभी मिलना हुआ तो कुछ न कुछ उसे दिया ही होगा। और फिर इस माया का भी क्या ठिकाना! आज इनके पास है, कल इसको छोड़कर वह कहीं और अपना ठिकाना बना ले, तो फिर तब तो ये हम से भी गए–बीते हो जायेंगे। इसलिये इस धन–वैभव आदि–आदि पर इसका अहंकार में रहना हमें जरा भी अच्छा नहीं लगता इत्यादि।

इस प्रकार के ईर्ष्या–द्वेष भरे चिन्तनों से तो फिर मनुष्य का मन प्रायः खराब ही रहता है। और फिर जब एक बहिन वा भाई का मन इतना खराब रहता है तो फिर दूसरी बहिन वा भाई का मन भी क्या अच्छा रहेगा ? और कब तक अच्छा रहेगा ? अतः वेद का उपदेश है–वेद का आदेश है कि हर बहिन को चाहिये कि वह अपनी बहिन से द्वेष न करे, अप्रीति न करे, शत्रुता न करे, दुश्मनी न करे, वैर विरोध न करे, ईर्ष्या न करे, घृणा न करे, नफरत न करे, वरन् हर बहिन अपनी दूसरी बहिन को देख वा सुनकर उससे प्रीति ही करे, प्रेम ही करे, स्नेह ही करे, लाड–प्यार ही करे और अगर आवश्यकता पड़े तो जी–जान से उसका सहयोग करे, उसकी मदद ही करे, उसकी इमदाद ही करे। और अगर बहिन बड़ी हो, तो उसका मान–सम्मान करे, उसकी आव–भगत करे, उसकी सेवा–शुश्रुषा करे, उसको मातृ तुल्य सिर–आँखों पर बैठाये। यही व्यवहार वास्तव में भाई–भाई को और बहिन–बहिन को परस्पर एक सूत्र में पिरोए रख सकता है, शरीर से भिन्न–भिन्न होते हुए भी हृदय से उन्हें एक बनाए रख सकता है, घर–परिवार से अलग–अलग रखकर भी दिल से उन्हें एक बनाए रख सकता है, स्थान की दृष्टि से दूर–दूर वर्त्तमान होने पर भी हृदय से उन्हें सन्निकट बनाए रख सकता है, दोनों की भिन्न–भिन्न समस्याओं के रहने पर भी उनके निवारण के लिए उन्हें एक जुट होकर सोचने–विचारने एवं आचरण करने वाला

बना सकता है। कहने को वे भले ही खरबूजे की तरह बाहर से पृथक्–पृथक् ही प्रतीत होते हों, पर वैदिक व्यवहार, उन्हें भीतर से खरबूजे की तरह एक ही बनाये रखता है। हाँ, यदि वेदानुसार वे द्वेष से, अप्रीति से, शत्रुता से, वैर से, दुश्मनी से ऊपर कभी न उठ सकेंगे, तो फिर वे सन्तरे की तरह बाहर से एक प्रतीत होने पर भी बाह्य आवरण के हटते ही वे फाँक–फाँक के रूप में तब पृथक्–पृथक् भासने लगेंगे–शरीर से भले ही वे भाई–भाई वा बहिन–बहिन एक–दूसरे से मिलते–मिलाते हुए दिखाई देंगे, पर हृदय से वे पृथक्–पृथक् ही होंगे। भले ही वे एक ही घर में वा एक ही शहर में वा एक ही जनपद वा प्रान्त के होंगे, पर हृदय से वे आपस में इतनी दूर होंगे कि देखने वाला दंग रह जायेगा। इस प्रकार भाई–भाई की, बहिन–बहिन की वृत्ति–प्रवृत्तियों को देख–देखकर फिर उनकी आने वाली पीढ़ियों पर भी वैसा ही प्रभाव पड़ने से तब उनमें भी परस्पर प्रेम नहीं वरन् द्वेष ही बढ़ेगा, आकर्षण नहीं वरन् विकर्षण ही बढ़ेगा। इसलिए हर एक भाई–बहिन को यह चाहिए कि वह अपने भाई एवं बहिन के प्रति, प्रीतिमय–तृप्तिमय व्यवहार करे। अर्थात् वह ऐसा व्यवहार ही करे कि जिससे उसका भाई एवं बहिन तृप्त हो, प्रसन्न हो, खुश हो.....।

नवम रश्मिः

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वियौष्ट। –अथर्व० ३.३०.५

हे बड़े बूढ़ों वाले विचारशील मनुष्यों! तुम एक–दूसरे से वियुक्त मत होओ।

(ज्यायस्वन्तः चित्तिनः मा वियौष्ट) हे बड़े बूढ़ों वाले वा बड़े–बूढ़ों का मान–सम्मान करने वाले, सम्यक् ज्ञान वाले विचारशील लोगो तुम मत वियुक्त होओ, मत अलग होओ।

वेद में भगवान् ने घर–परिवार वा समाज में रहने वाले मनुष्यों को उपदेश दिया कि– **(ज्यायस्वन्तः)** हे घर–परिवार वा समाज वा राष्ट्र में बड़े–बूढ़ों वाले अर्थात् बड़े–बूढ़ों के संरक्षण वा पावन शीतल छत्र–छाया में रहने वाले अथवा बड़े–बूढ़े, आयु, अनुभव और ज्ञान के धनी महानुभावों वाले, **(चित्तिनः)** सम्यक् ज्ञान के धनी, मननशील–विचारशील मनुष्यो! **(मा वियौष्ट)** तुम एक–दूसरे से कभी वियुक्त मत होओ, तुम एक–दूसरे से कभी पृथक् मत होओ, तुम एक–दूसरे से कभी अलग मत होओ।

वेद में भगवान् घर–परिवार, वा समाज वा राष्ट्र में रहने वालों को उपदेश देते हैं **"चित्तिनः"**–सम्यक् ज्ञान वाले समझदार बुद्धिमान् मनुष्यों, तुम **"ज्यायस्वन्तः"** सदा बड़े–बूढ़ों वाले, सदा बड़े–बूढ़ों का मान–सम्मान करने वाले, सदा आयु–अनुभव और ज्ञान आदि से वृद्धों को प्रणाम करने वाले, सर्वदा उनकी पावन सुखद शान्तिमय शीतल छत्र–छाया में रहने वाले होओ। **(मा वियौष्ट)** तुम कभी सेवा–शुश्रुषा में आलस्य के कारण वा प्रातः–सायं सीधे–साधे, बड़े–बूढ़ों को प्रणाम करने में अपना अपमान अनुभव करने के कारण वा उनको अपने गृहस्थ पर व्यर्थ का भार–बोझ वा बबाल समझने के कारण वा घर–गृहस्थ में जगह की तंगी के कारण वा बहुत बड़ी पोस्ट पर लगने पर घर पर आने–जाने वाले बड़े–बड़े लोगों के सामने, उन सीधे सादे, भोले–भाले वृद्ध माता–पिताओं, दादा–दादी के कारण अपने को हीन अनुभव करने के कारण वा उनके

घर–परिवार में रहने पर अपने पर उनके खाने–पीने, रहने–सहने, दवा–दारु से अधिक खर्चों के भार से बचने के कारण तुम कभी उनसे वियुक्त मत होओ, पृथक् मत होओ, अलग मत होओ, विलग मत होओ।

सचमुच अगर तुम **'चित्तिनः'** सम्यक् ज्ञान वाले हो, बुद्धिमान् हो, समझदार हो, अकलमन्द हो, विचारवान् हो, तो वेद के आदेशानुसार **'ज्यायस्वन्तः'** तुम सदा चाहोगे कि तुम बड़े–बूढ़ों वाले होओ, तुम वृद्ध माता–पिता और दादी–दादा वाले होओ। तुम सदा यह सोचोगे कि प्रभु कृपा से तुम्हारे सिर पर बड़े–बूढ़े बने रहें, आयु, अनुभव और ज्ञान से वृद्ध महानुभावों का वरदहस्त सदा तुम्हारे सिर पर बना रहे, उनकी शीतल पावन छत्र–छाया आप पर बनी रहे। वास्तव में जिस घर–परिवार वा समाज में वृद्ध बने रहते हैं उसी में ही सदा पितृयज्ञ चल पाता है, उसी में ही पितरों को नित्य प्रति मान–सम्मान पूर्वक प्रणाम करके उनसे आशीर्वाद लिया जा सकता है, उसी में ही उनकी श्रद्धा–प्रेम–भक्ति से सेवा–शुश्रुषा कर–करके उनसे हार्दिक स्नेह और आशीर्वाद के बहे हुए स्रोतों में स्नान किया जा सकता है। यही वे चीजें हैं जिनके कारण उस वृद्धोपसेवी, अभिवादनशील मानव की आयु, विद्या, यश और बल सतत बढ़ता रहता है। कितने अद्‌भुत वाक्य निकलते हैं उन वृद्धों के मुख से जिनकी दिल से सेवा–शुश्रुषा की जाती है और जिनको श्रद्धा–भक्ति से प्रणाम किया जाता है। जैसे–"बेटा चिरंजीव रहो ? बेटा जुग–जुग जीओ, दूधों–नहाओ, पूतो–फलो, बेटा जिधर को निकल जाओ, उधर से ही तुझे सर्वत्र मान–सम्मान मिले, सेवा–सत्कार मिले, यश और प्यार मिले।"

कितना भी मूल्यावान् से मूल्यावान् भोजन क्यों न किया जाय, वह हमें चिरञ्जीव तो बना सकता है, दीर्घ–आयु वाला तो बना सकता है, पर युग–युगों तक जीवित नहीं रख सकता। पर माँ–बाप की भावना का क्या कहना, उसने तो समय पर व्यायाम और उपर्युक्त भोजन के आधार पर बनने वाली दीर्घआयु को भी लांघ दिया। हमने माता–पिता वा दादी–दादा को प्रणाम किया वा कुछ सेवा–शुश्रुषा की वा कुछ दवा–दारू वा कुछ ओषधोपचार किया कि उनके रोम–रोम से आशीर्वाद के स्रोत

फूट निकले, और वे बिना रिवच आन किये ही प्रवाहित होने लगे ''बेटा, चिरंजीव रहो, जिधर को निकलो लोग तुम्हें सिर आँखों पर बिठाएँ, तुम्हारी आव–भगत करें, और तुम्हारे गीत गाते–गाते न अघाएँ, तुम्हारी शंसा–प्रशंसा करते हुए नहीं थकें। वास्तव में घर–परिवार वा समाज के लिए ऐसे व्यक्ति वरदान होते हैं। इसलिए जो 'चित्ति' होगा, बुद्धिमान् होगा, अकलमन्द होगा, वह अपने को बड़ा ही सौभाग्यशाली समझेगा, जिसके घर पर ये पितृदेव विराजमान होंगे, ये आयु अनुभव और ज्ञान से वृद्ध महानुभाव सदा वर्त्तमान होंगे।''

मुझे याद है कि चन्दौसी में एक मुख्य द्वार के अन्तर्गत चार मकान थे। एक–एक करके उन चारों मकानों में चार परिवार रहते थे जो भारत पाक विभाजन के बाद वहीं आन बसे थे। एक घर में एक व्यक्ति रहते थे, उसी के घर के सामने उसके पहले श्वसुर पहली (स्वर्ग सिधार गये) पत्नी के पिता जी रहते थे। और उसके पास वाले मकान में उसके वर्त्तमान श्वसुर (वर्त्तमान पत्नी के पिता) और उसके वृद्ध भाई (आयु ९०–१०० के मध्य) रहते थे। उसके सामने वाले प्रथम श्वसुर के पड़ोस में इसके भाञ्जे रहते थे। एक ही जगह में चारों परिवार बड़े सुख से जीवन व्यतीत कर रहे थे। मैं एक दिन उस व्यक्ति के द्वितीय श्वसुर के बड़े भाई (आयु ९०–१०० में) से बातचीत कर रहा था, तो उसने प्रसंगवश कहा–''क्या बताऊँ! ये चारों घर के सदस्य इतने बेहोश होकर सोते हैं कि इन का कुछ भी कोई क्यों न कर ले इनको होश ही न आयेगा। इसलिए इन पर मुझे इतनी दया आती है कि मैं बता नहीं सकता।'' रात को दो–चार बार जब भी मेरी आँख खुलती है तो मैं इन चारों घरों की छतों पर खूब ऊपर–नीचे, दाएँ–बायें देख–भाल लेता हूँ, यह सोचकर कि कभी इनको कोई लूट–लूट कर बरबाद न कर जाए। अब बताओ वह वृद्ध दिन भर में तो दो एक रोटी वा दो–एक प्याला चाय पीता है, घर में घटिया से घटिया स्थान पर स्वयं सोता और पुत्र, पोतों आदि को खूब सुख–सुविधा देता है, उन्हीं के फटे–पुराने वस्त्र और जूते पहन कर सुख–सन्तोष अनुभव करता है। सब लोग कार्य पर चले जाते हैं तो चारों घरों के बच्चों पर वह निगरानी रखता है

कि कोई इनको कहीं हानि न पहुँचाए वा वे कहीं गुम न हो जाएँ। सच बताओ ऐसा दिव्य चौकीदार कभी पैसों से मिल सकता है ? कभी नहीं, कभी नहीं!

एक व्यक्ति मुझ से मिला जो मैडिकल स्टोर चला रहा है। प्रसंगवश वह एक दिन मुझे बता रहा था कि मैंने जब B.A.M.S. का कोर्स किया, तो जहाँ मैं प्रैक्टिस करता था वहाँ मैंने अपने मेडिकल स्टोर पर दवाई बेचने का कार्य भी प्रारम्भ कर दिया। पिताजी ने दुकान ले–ली और दो सहस्र रुपया मुझे देकर कहा कि–'बेटे' मैं तो यही कुछ दे सकता हूँ। उसने कार्य प्रारम्भ कर दिया। अब २००० रु० में भला कितनी दवाईयाँ आ पाती। मेरी दुकान पर प्रायः मेरे दादा जी आकर बैठ जाते और मेरे कार्य और व्यवहार को देखते रहते। उन्होंने क्या देखा कि प्रायः व्यक्ति औषधि लेने आते हैं तो एकाध दवा देने पर मैं यही कहता हूँ कि–''अमुक दवा नहीं है, अमुक भी नहीं है, अमुक दवा परसों आने वाली है इत्यादि।'' अब भला जिसको दवा अब चाहिये मरीज के लिये, वह परसों तक कैसे प्रतीक्षा करे। चलो हमारे यहाँ से उसे दवा नहीं मिली, कहीं और से वह ले लेगा। दादा जी ने यह सब देखा तो बड़े दुःखी हुए और बोले–''बेटे! जो जो ये माँगते हैं वह–वह दवाईयाँ तू मँगवाता क्यों नहीं ?'' इस पर मैं बोला–''दादा जी माल मँगाया है पर पूँजी नहीं है!'' अभी ४५ रु० देकर एक पेटी माल छुड़ाना है, शाम तक कुछ बिक्री हो जायेगी, तब वह पेटी ले आऊँगा। मुझे उन्होंने जेब से ४५ रु० दिये, मैं माल छुड़ा लाया। फिर वे बोले–बेटा! तुम कभी ग्राहक को मत कहा करो कि यह दवा नहीं है, वह औषध नहीं है वरन् तुम कहा करो–यह दवा अगर आप ४ बजे आ सकें तो मैं तुम्हें दे सकूँगा, यह दवा मैं आपको ५ या ६ बजे प्रदान कर सकूँगा और बेटा, जहाँ ४ बज जाएँ झट अन्य दुकानों से यह दवा लाकर रख लो। फिर जब वे आयेंगे तो उन्हें एक विश्वास जम जायेगा कि–''देर–सवेर यहाँ हर दवा मिल ही जाती है। अतः अन्यत्र जाने की क्या आवश्यकता है।'' मैं ४५ रु० देकर बिल्टी छुड़ा लाया और आइन्दा दादा जी की सीख के अनुसार कार्य करना प्रारम्भ किया। उधर दादा जी ने दो–तीन दिन के बाद आकर मुझे

५०० रु दे दिये और कहा कि–''बेटा, ये पैसे और ले–ले, सम्भवतः इससे आपको अपने व्यापार में कुछ सुविधा हो सके, तो मुझे बड़ी ही प्रसन्नता होगी। दादा जी तो चले गये पर मैंने उनके रुपयों को अपना सौभाग्य माना और उन्हीं के बताए अनुसार मैं कार्य करता रहा। दादा जी तो आज संसार में नहीं रहे पर कार्य प्रारम्भ करने पर उनका मेरे समीप बैठना, प्यार से समझाना और फिर ५०० रु० देना और यह कहना कि– ''देख, ग्राहक खाली न जाए, चाहे तू उसको कहीं से औषधि लाकर दे।'' आज मुझे फुर्सत नहीं। भगवान् की कृपा एवं पूज्य दादा जी के आशीर्वाद से आज मेरे पास भला क्या नहीं है? सब कुछ तो है! तो बड़े–बूढ़े तो वरदान होते हैं। जिसके सिर पर ये विद्यमान रहते हैं वे बड़भागी हैं। जिन के यहाँ ये नहीं हैं, इस दृष्टि से वे भाग्यहीन हैं।

घर–परिवार में जब तक ये बने रहते हैं तो भले ही वे शरीर से कितने भी जीर्ण–शीर्ण क्यों न हो, इनके कारण घर–परिवार में बहु–बेटियों को कोई आँख उठाकर भी नहीं देख सकता। बाल–बच्चों की भी सहज इनसे रक्षा–सुरक्षा होती रहती है। घर–गृहस्थ में ये इतने सजग और चौकन्ने रहते हैं कि किसी भी वस्तु–व्यक्ति की हानि नहीं हो पाती। मुझे याद आती है एक घटना कि एक बार एक अतिवृद्ध माता अपनी बहु के साथ कहीं जा रही थी। सम्भवतः रुग्ण होने के कारण किसी हकीम के पास जा रही थी। इतने में एक दुकानदार से उसकी बहु कुछ खरीदने लगी, तो राह में उसकी बहु पर किसी ने दुर्भावना से दृष्टि की और कुछ मर्यादाविहीन शब्द कह दिये। फिर क्या था, न जाने कहाँ से उसमें जान आ गई और स्वाभिमान फूट निकला। उसने चप्पल उतारी और उसकी मरम्मत करनी प्रारम्भ कर दी और मुख से उसको वह सुनाया कि वह भी क्या याद करेगा कि कोई मिला था। वह पुनः पुनः हाथ जोड़–जोड़ कर क्षमा माँग रहा था, पर उसको भी तो उस माता ने ऐसा पाठ पढ़ाना था कि पुनः वह कभी बोले तो मुख सम्भाल कर बोले। सो ये वृद्ध तो रक्षक होते हैं। इनके रहते हुए भला कौन है जो घर की इन बहु–बेटियाँ को कुदृष्टि से निहारे!

दादी–दादा की कहानियाँ तो प्रसिद्ध ही हैं जो अपने पोते–

पोतियों को सुना–सुना कर जहाँ अपनी आने वाली पीढ़ी का वे मनोरञ्जन करते हैं, वहाँ वे उनके द्वारा अपने प्यारे–प्यारे बच्चों का कई दृष्टियों से ज्ञानवर्धन भी करते हैं। दादी–दादा के वर्त्तमान होने पर बच्चे तो फूलों और फलों की तरह ही पल–पुस कर हरे–भरे हो जाते हैं। उनके रहते हुए बच्चों के माता–पिता पर्याप्त निश्चिन्त रह पाते हैं। उनका लाड–प्यार भी बच्चों पर एक अपने ही ढंग का निराला ही होता है। मुझे स्मरण है कि जब दादी और घर–परिवार के वृद्ध जन हमें प्यार से चूम लेते थे वा हमें मट्ठा, चावल आदि–आदि कुछ खिलाते–पिलाते थे तो उनके प्यार में हमें अपने माँ–बाप से बढ़कर एक विशेष तृप्ति मिलती थी, आनन्द मिलता था। क्योंकि उस समय जैसे हम खा–खा कर नहीं अघाते थे वैसे वे हमें खिला–खिला कर अघाते न थे। उन बातों को स्मरण कर कर के एक विचित्र से सुख की अनुभूति हमें आज भी होती है। शब्द तो उस समय हमारे पास नहीं होते थे, पर हृदय प्रसन्न तो होते ही थे। आज भी भला हम उस अनूठे प्यार को शब्दों में अभिव्यक्त कर सकते हैं क्या? सचमुच वे नानी दादियाँ जब हमें कुछ खिलाती–पिलाती थीं तो वे फूली नहीं समाती थी। हम तब खाके भी इतने खुश नहीं होते थे जितनी कि वे खिलाकर प्रसन्न रहती थी।

कई जगह घर–परिवार में बड़े–बूढ़े लोगों को भार समझा जाता है, और उन्हें घर से किसी न किसी तरह बाहर करने में अपना सुख–सौभाग्य समझा जाता है। यह ठीक है कि कई जगह बड़े–बूढ़े व्यक्ति भी बड़े सनकी होते हैं, स्वयं घर–गृहस्थ के धन्धों से निवृत होकर भी हर काम में मीन–मेख निकालते रहते हैं, किन्हीं बातों के लिए वे जिद्दी और हट्ठी भी प्रायः बने रहते हैं। चाहिये तो इस अवस्था में यह वे वानप्रस्थ लें, पर यदि वे कि वानप्रस्थ आदि नहीं ले सकते तो घर में भी वे वनस्थों जैसा–विरक्तों जैसा जीवन व्यतीत करें वे अपना आत्मनिरीक्षण करें कि बीते हुए गृहस्थाश्रम काल में हमने कौन–कौन से ऐसे कार्य किये जिनसे हम नीचे गए। और यह सब सोचकर उन्हें अपने आने वाले जीवन को दिव्य बनाने के लिये खूब प्रयास करना चाहिए। अपने ५०–६० के बीते वर्षों के अनुभव ये सन्तानों को समय आने पर जब वे पूछे तो सुना देवें। पर अगर

वे वैसा न करें तो ये बहुत ज्यादा इरिटेट न हों, न ही ये उनकी निन्दा चर्चा करें। क्योंकि उनके एवं इनके जमाने में बहुत बड़ा अन्तर पड़ गया है। हमारे गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय विभाग में एक इङ्गलैण्ड रिटर्न अध्यापक थे जो विदेशी छात्रों को विशेष समय देकर गुरुकुल में पढ़ाते थे। वे स्वभाव से कुछ मस्त ही रहते थे। उनके पुत्र लखनऊ बहुत बड़े आफिसर थे। उन्होंने अपने बच्चों के किसी शुभ संस्कार में अपने इन माता–पिता को बुला लिया। ये दोनों यहाँ से चले गए। वहाँ खूब दावतें उड़ रही थीं। बेटे के दोस्त, साथी आदि खूब आते थे और खूब खाते–पीते थे। यह सब कुछ जब उसकी माँ ने देखा तो उसको चिन्ता हुई और वह सोचने लगी कि यों तो मेरा बेटा बरबाद हो जायेगा, कंगाल हो जायेगा। उन्होंने दो–चार दिनों में ही बहु को धीरे–धीरे समझाना शुरु किया और कहा–''बहु, सम्भल कर रहो, पुत्र तो मेरा भोला है, मूर्ख है, वो तो समझदार बना नहीं। ऐसे तो कल को वह भिखारी बन जायेगा।'' बहु बेचारी कुछ बोलती, तो उसे भय था कि–''दो–चार दिन को आई हुई सास है, बुरा न मान जाएँ या मेरा पति वा ससुर ही कुछ बुरा न मान जाए। वे सोचने लगी कि इस बावली को क्या पता कि इसके बेटे का क्या स्टेटस है, क्या स्तर है।'' उधर उसने अपने पति के भी कान भरने शुरू कर दिये। वे बोली–''पतिदेव, बेटे पर तो मानो किसी ने जादू कर दिया हो, उसे होश ही नहीं है, मैं तो क्या कहूँ, आप ही कुछ समझायें न! नहीं तो यह तो यों ही अपनी मूर्खता या वाह–वाही में लुट–पिट जायेगा।'' इस पर उस व्यक्ति ने अपनी पत्नी को कहा–''बावली तू काहे को चिन्ता करती है। हमारा समय और था इनका और। हमारी आय दो–ढ़ाई सौ थी इनकी ४–५ सहस्र। इनका अपना एक दायरा है हमारा अपना था। इनका अपने ढंग का एक क्षेत्र है हमारा अपना था। हमारे पास ऐसे १०–२० व्यक्ति भी आ जाते तो भी उस समय की आय में हमारा दिवाला निकल जाता पर इनके ५०० के सहस्र भी व्यक्ति आ जाएँ तो भी तेरा बेटा साहब ही बना रहेगा, धनी ही बना रहेगा चिन्ता न कर। जैसे और खूब खा रहे हैं वैसे ही तू भी मेरे साथ मिलकर खूब घूम–फिर कर व्यायाम कर, डण्ड–बैठक लगा और खूब खा–पी।

काहे को परेशान होती है। चार दिन के हम मेहमान हैं।'' इस पर वह हँसी और बोली, आपको तो अपने इस बेटे की कोई चिन्ता नहीं पर मुझे तो इसकी बड़ी चिन्ता लग रही है। देवी जी, तेरा बेटा बहुत पढ़ा–लिखा गवर्नमेण्ट के लाखों के कार्य करता रहता है, सहस्रों वेतन लेता है, बहुत समझदार है पढ़ा–लिखा है तभी तो गर्वमेण्ट ने उसको इतने ऊँचे पद पर रखा हुआ है। उसे अपने घर–गृहस्थ की पर्याप्त चिन्ता है। तभी तो हमें पूछता रहता है कि माताजी–पिताजी मैं आपको क्या भेजूँ? देवी जी! चिन्ता उसका कार्य है–चिन्ता घर–गृहस्थों का काम है हमारा कार्य तो चिन्तन करना है, आत्म–निरीक्षण करना है, फिर अपने को.....सुधार कर प्रभु–भजन करना है। चल, दो दिन.....है, खूब डण्ड–बैठक कर और खूब मेरी तरह खा–पी, और चल–फिर हरिद्वार गुरुकुल कांगड़ी में। प्रभु की दी हुई इस सन्तान को जो अब समर्थ हो गई है, उसको आशीर्वाद देकर प्रभु भरोसे इसे छोड़, और प्रार्थना कर कि–''प्रभु, इन्हें ऐसी बुद्धि दे कि ये वह सोचें, वह करें जिससे इन का यश बढ़े....।'' सुख सौभाग्य बढ़े इत्यादि।

सो कहने का अर्थ यह है कि जो अपनी वानप्रस्थ की आयु में भी घर–गृहस्थ से अपनी किन्हीं कमजोरियों के कारण वानप्रस्थी नहीं बन सकते, तो कम से कम उन्हें घर में तो कुछ थोड़ा बहुत निर्लेप–सा रहना ही चाहिए, अन्यथा उनको कभी पछताना पड़ेगा, और तब उनकी हानि होगी। उनको दुःख होगा।

खैर घर में बड़े–बूढ़े कई बार अच्छे भी बहुत होते हैं–कई बार नहीं वरन् प्रायः करके वृद्ध अच्छे और घर–परिवार समाज के किए वरदान ही होते हैं। जैसे कि एक घर में दो बेटे हैं दोनों के कार्य पृथक्–पृथक् हैं। एक का दिल्ली में, दूसरे का फरीदाबाद में। पिता कुछ हार्ट के पेशिन्ट है। पर घर पर बैठे–बैठे भी दोनों बेटों के व्यापारिक कार्यों के प्रायः अधिकतर उत्तर वे ही देते रहते हैं, और ऐसे देते हैं तो दोनों बेटों के लिये उनका कार्य बड़ा ही सन्तोष प्रद और सुखद ही रहता है। बैंक के कार्य, हिसाब–किताब के कार्य, बिजली, पानी आदि के कार्य, गाड़ी, स्कूटर आदि का साफ करना, बच्चों को बस आदि

पर चढ़ाने और उनको बस के लिए तैय्यार करने के कार्य के लिये सब को सजग करना, प्रातः सर्वप्रथम उठकर द्वार खोलना, रात्रि को द्वार बन्द करना आदि–आदि अनेकों चिन्ताओं से वे अपने बहु–बेटों को मुक्त ही रखे हुए रहते हैं। यदि वे एक भी दिन के लिये कहीं बाहर चले जाएँ तो तब पता लगता है कि पिताजी के एक भी दिन घर पर न रहने से घर की क्या हालत हो जाती है। इस रुग्णावस्था में भी पिता का अपने ढंग का स्थान है और कार्य है। बेटे बाहर कार्य पर जब जाते हैं तो पिता कहता है कि–''बेटा, समय पर घर आ जाना। कभी गाड़ी चलाना, तो बेटा ध्यान से चलाना, जरा धीरे चलाना।'' सचमुच जब मैं उन्हें देखता हूँ और उनके कार्य को देखता हूँ तो तब मुझे उनकी कीमत का पता लगता है। वह वृद्ध पिता कोई वेतन नहीं लेता, कम से कम खाता है, पर काम अधिक से अधिक करना चाहता है। पुत्र–पौत्रों के उज्ज्वल भविष्य के लिये वह प्रभु से प्रार्थना करता है, पुरुषार्थ करता है। भले ही पुत्रादि थोड़े बहुत कभी गुस्सा भी हो कर कह जाएँ कि–''पिताजी, अब हम बच्चे नहीं हैं, काहे को आप जरा–जरा–सी बात पर बोलते रहते हैं।'' पर मुझे ऐसा लगता है कि कभी वे नहीं रहेंगे और ये बेटे कुछ प्रौढ़ आयु के हो जायेंगे, तो इस देवता स्वरूप पिता के ये वाक्य इनके कानों में तब गूँजते रहेंगे और इनका सहज ही भला करते रहेंगे। माँ भी भले ही रसोई में कुछ कार्य नहीं कर पाती, पर फिर भी दो बहुओं में पक्षपात रहित होकर जो ये यथोचित न्याय से उन्हें कार्य देकर उनमें सामञ्जस्य बनाए रखती हैं। दोनों को अपने ही ढंग से सहलाती और समझाती–बुझाती हैं, और कई ऐसे दिव्य कार्य करके उन दोनों में वे ऐसा सन्तुलन बनाए रखती हैं कि मैं भी कभी देख–सुनकर दाँतों तले अँगुली दबाने लगता हूँ। मैं दिल से उनका मूल्याङ्कन कर उन बेटों से यही कहता हूँ कि–''प्रिय वत्सो! तुम सचमुच बड़े ही भाग्यशाली हो जो तुम को ऐसे देवता स्वरूप माता–पिता मिले हैं जो आप दोनों के परिवारों में अपनी गुप्त सेवाओं और चिन्तनों के द्वारा तुम सब को एक सूत्र में पिरोए रहते हैं। यह कभी तुम्हें तब पता चलेगा जब ये नहीं रहेंगे। अतः तुम दोनों इन को वरदान समझकर इनका मान–सम्मान करो, सेवा–

सत्कार करो। इस में सन्देह नहीं कि वे बेटे यह सब कुछ दिल से करते भी हैं। जब कभी उन्हें शारीरिक कष्ट विशेष हो जाता है तो मानो सारा घर–परिवार हिल जाता है और उस समय जो बेटे करते हैं या बहुएँ करती हैं, तो मेरे जैसे व्यक्ति के हृदय से भी उनके लिये रोम–रोम से आशीर्वाद निकलता है। पिता की इच्छाओं पर वे अनेकों कार्यों को करते हैं। करें भी क्यों न, उन्होंने भी तो अपनी उस माँ की भावनाओं पर हृदय से फूल चढ़ाए हैं जिन्होंने अपने छोटे–छोटे बेटों को पति के अभाव में बड़े ही तप से पाला–पोसा था।''

ऐसे लोग जो इन बड़े–बूढ़े अनुभवी जनों को सिर आँखों पर बिठाए रखते हैं वे तो भाग्यशाली हैं, पर इनके अतिरिक्त अनेकों ऐसे भी हैं जो इन्हें भार समझते हैं, जो इन्हें अपने जीवन के लिये एक बहुत बड़ा बवाल समझते हैं। मुझे एक ऐसी माँ मिली जिस को मैंने कहा कि–''माँ जी, आपके दो–तीन बेटे हैं। वे बहुत ही अच्छे हैं। चाहे तुम किसी के पास रहो। सभी तुम्हें रखकर अपने को धन्य समझेंगे। इस पर वह माँ आह भर कर मुझे कहने लगी कि–''बेटा, आज तो प्रायः सब बहु–बेटे, माँ–बाप को नहीं चाहते, वे तो अलग अलग ही रहना पसन्द करते हैं।'' मैंने कहा–''अम्मा! क्या आपको कभी उन्होंने कुछ कहा है क्या?'' इस पर वह माँ बोली, ''बेटा, बुद्धिमान् को संकेत–इशारा ही काफी होता है? वह तो उसी से बहुत कुछ समझ जाता है।''

ऐसे ही एक वृद्ध सज्जन को मैं दिल्ली देखने गया और कुशल–मंगल पूछा, तो प्रसंगवश उसने अपने एक घनिष्ठ मित्र की कुछ वर्ष पूर्व की चर्चा की। वह बोले–एक दिन घूमते हुए मैं उस मित्र के पास जा बैठा जो कुछ रुग्ण से चल रहे थे। उनसे हाल–चाल पूछा तो वे बोले कि–भाई साहब, रोग की तो बात जाने दो, जैसा है सो चल ही रहा है, पर एक बात और बताता हूँ जिससे हृदय को बड़ा ही दुःख हुआ। आज से कुछ वर्ष पूर्व जब मैं रिटायर हुआ था तो प्रोवीडेण्ट फण्ड आदि–आदि को मुझे ७५०००) रु० मिला, तो सोचा, मकान ही बनवा लूँ। सब सुख से रहेंगे। सो मेरे पास इसके अतिरिक्त और भी जो थोड़ा बहुत कुछ था, उस सब को मिलाकर यह मकान बनवा लिया।

घर से पत्नी जल्दी ही प्रभु को प्यारी हो गयी, अर्थात् स्वर्ग सिधार गयी। घर में एक कमरा बहु का है, एक बच्चों के सोने का है, एक उनका Studyroom है। एक स्टोर आदि और एक ड्राईंग रूम है। भाई साहब जी मैं बीमार हो गया तो कुछ खांसी जुकाम–सा भी हुआ। स्वाभाविक था कि थूकना या खकारना भी होता ही है। कभी कबार थूक–खकार आदि बरतन से बाहर भी चले जाते थे। दीवार पर भी उनके कथन के अनुसार थूक आदि चली गयी होगी। सो एक दिन जैसा कि कुछ मुझे पता लगा कि हमारी बहु ने अपने पति (अर्थात् हमारे पुत्र) से कहा–''पतिदेव! पिताजी की खाट अगर द्वार के पास वाले उस बरामदे में बिछा दी जाए, तो कैसा रहेगा ? उसे अपने पति ने अर्थात् मेरे बेटे ने अपनी पत्नी को कहा कि ऐसा मैं कैसे कर सकता हूँ ?'' पत्नी बोली, ''देखो, मुझे तो कुछ नहीं, इतने बड़े–बूढ़े होकर भी उन्हें इतनी तमीज नहीं कि कहाँ थूकना चाहिये और कहाँ नहीं। सारी दीवार का बुरा हाल कर रखा है, जबकि इसके लिये पात्र पड़ा हुआ है। मुझे क्या है, घर में एक ही तो ढंग की जगह है कि जो ड्राईंग–रूम है बाकी तो सब छोटे–छोटे कमरे हैं। और उसको भी पिताजी थूक–थूक कर सड़ा दें, तो फिर क्या किया जाए। और फिर मुझे क्या है, ड्राईंग–रूप गन्दा होगा तो आप ही को शर्म आयेगी। क्योंकि मेरा तो कौन आता है, आप ही के मित्र–दोस्त वा कुलीक आदि आते हैं। घर को इस गन्दगी–गिलाजत का प्रदर्शन करना है तो पड़ा रहने दें उन्हें वहीं। और बच्चों की तो तुम्हें कुछ फिकर ही नहीं है कि कभी उन्हें भी इस सब से हानि हो सकती है। और फिर तुम तो ऐसा समझते हो जैसे कि मेरे तो वे कुछ लगते ही न हों।'' इस पर पति बोले–''देवि! यह मकान तो पिताजी की ही देन हैं। जितनी उनके जीवन की कमाई थी, यहाँ तक कि रिटायर होने पर भी जो कुछ मिला वह सब भी उन्होंने इसी मकान में लगा दिया, ताकि सब परिवार को सुख मिले।'' अब मैं कैसे उनसे कह सकता हूँ कि आप बाहर बरामदे में सो जाओ। इस पर पत्नी बोली, ''देखो पतिदेव! मैं कुछ उनका बुरा थोड़ी चाहती हूँ। एक जगह भीतर पड़ा–पड़ा व्यक्ति तो सड़ जाता है। मैं सोचती हूँ, जब इनकी खाट बाहर बरामदे में

चली जायेगी, तो रास्ते से आते–जाते को देख कर, इन का जी भी लगा रहेगा। फिर उनका गद्दा, गिलाफ एवं बेड शीट आदि भी मैला हैं, मैं उसको भी बदल दूँगी, अर्थात् दूसरा साफ–सुथरा बिछा दूँगी। सचमुच जब वे बाहर चलें जायेंगे तो उनको ताजी हवा भी मिलेगी और वे जल्दी स्वस्थ्य भी हो जायेंगी।'' सो हाल पूछने वाले अपने मित्र से उन्होंने कहा–''भाई साहब, उस पत्नी ने अर्थात् मेरी बहु ने अपने पति से कहा–तुम आओ तो सही, कह तो सब मैं लूँगी।'' सो पति भी पत्नी के पीछे पीछे पिता जी के पास आ गया। और वहाँ आकर मुझे बेटे ने कहा कि–''पिताजी, आप की खाट अगर बाहर बिछा दें तो आपको कैसा लगेगा, पिताजी बोले–''क्या कहा बेटा।'' बेटा बोला–''पिताजी, जरा बाहर खाट बिछाने से आते–जाते लोगों को देखेंगे, तो आपको बहुत अच्छा लगेगा। दिल भी लगा रहेगा। ताजी हवा भी लगेगी। स्वास्थ्य भी शीघ्र ही अच्छा हो जायेगा।'' पिताजी अपने दोस्त से बोले कि–''मैं अभी सोच ही रहा था कि मैं क्या उत्तर दूँ ?'' इतने में बहु अपने पति (अर्थात्) मेरे पुत्र से बोली कि–''भला पिताजी को क्या इन्कार हो सकता है। आप उनके हाथ में लाठी तो दो और हाथ का सहारा देकर जरा उन्हें उठाओ तो सही। मैं गद्दा–बेडशीट आदि भी बदल दूँगी। उनको छड़ी देकर सहारे से मुझे कुर्सी पर बिठाओ तो सही, उन विचारों को भला क्या इन्कार हो सकता है ? उनके लिए तो और भी अच्छा हो जायेगा।'' इतने में बहु ने लाठी–बैंत दिया, बेटे ने सहारे से उठाकर कुर्सी पर बिठा दिया। मेरी खाट एवं गद्दा, बेडशीट आदि बदल कर बाहर बरामदे में बिछा दिया गया। सो इन सर्दी की रातों में जब कि सारे परिवार के सदस्य कमरों में रजाईयाँ ओढ़कर सोते हैं, और मैं उसी दिन से बराबर ताजी हवा खा रहा हूँ। मेरे लिये घर में अब स्थान नहीं है। बस अब तो मैं दिल से उस बहु–बेटे को देखना भी नहीं चाहता। रात–दिन यही प्रार्थना है कि प्रभु इन्होंने तो मुझे निकाल ही दिया, अब प्रभु ही अपना आश्रय दे, अपने बड़े घर में मुझे ठिकाना दे। अब भला ऐसे बड़े–बूढ़े पिता, जिसने अपना सर्वस्व वार कर वह घर बनाया पर आज उस मकान में उसको ही जगह नहीं। अब भला ऐसे वृद्ध महानुभाव के हृदय से उन

बहु–बेटों के प्रति क्या स्नेह वा आशीर्वाद प्रवाहित हो सकेगा! जिन्होंने कि उससे जीवन पाया, पालन–पोषण पाया, अन्त में उनकी पूर्ण आय से बने इस भवन में आश्रय पाया, आज उसको तो वे क्या देंगे। वह तो उसी के बनाए मकान के भीतर भी उसे रहने देने पर राजी नहीं हैं। भले ही लोक–लाज से वे कुछ करते भी रहें तो भी कुछ नहीं करने के तुल्य है। मैं उस सज्जन की गाथा को सुनकर बड़ा ही दुःखी हुआ, पर मैं भला क्या कर सकता था?

ये वृद्ध, बड़े–बूढ़े अनुभवी जन वस्तुतः गृहस्थ की एक अमूल्य निधि हैं। इन का बस चले तो ये अपना तन बेचकर भी अपने परिवार को सुख पहुँचावें। आज भी एक सज्जन हैं कि चारों पुत्रों को पृथक् कर देने पर शरीर से पूर्वापेक्षा कुछ रुग्ण एवं जीर्ण होने पर भी गौ सेवा कर १५–२० किलो पवित्र दूध निकाल कर अपने चारों बेटों को बाँट देते हैं। वह यह सब कुछ करते हैं, तो बड़े ही तृप्त होते हैं। पुत्रों को तो उन्होंने पाला–पोसा ही पर अब वे जब पोते–पोत्तियों को दूध–दही, छाछ, मक्खन, घी और उस से बने हुए पदार्थ आदि खिलाते हैं, तो वे फूले नहीं समाते। बड़े बच्चों में से कोई भी तो ऐसा नहीं है जो अन्य अनेकों कार्यों के साथ यह सब कुछ कर सके। पिछले कुछ दिनों में जब इन को घर में शारीरिक कष्ट हो गया, तो गौएँ आदि भी कुम्हला गयी। तब उन सब पशुओं को पालनार्थ ग्राम में भेज दिया गया पर जहाँ वे कुछ स्वस्थ हुए, तो फिर दुग्ध, दही आदि से अपनी बहु–बेटियों वा पोतों–पोतियों को तृप्त करने लगे। प्रातःकाल जब पिता जी अपनी प्रत्येक पुत्र–वधु को दुग्धादि देते हैं तो जहाँ बहुएँ उनसे चार–चार, पाँच–पाँच किलो दुग्ध आदि पाकर खुश और प्रसन्न होती हैं वहाँ यह भी उन बच्चों को दुग्ध, दधि, घृत, मक्खन, मट्ठा आदि खाते–पीते देखकर फूले नहीं समाते। सो ये वृद्ध क्या हैं, यह तो घर–परिवार वा समाज का अनुपम धन है, घर–परिवार वा समाज के लिये वरदान हैं, घर–परिवार वा समाज की महिमा हैं। जहाँ ये विद्यमान होते हैं, वही पर ही तो धर्म की कुछ परम्पराएँ चलती रहती हैं, घर–परिवार की मान–मर्यादाएँ टिकी रहती है। पर जहाँ ये नहीं होते हैं, उस स्थान पर तो दिन में भी

अन्धकार रहता है। जहाँ ये रहते हैं वहाँ रात के अन्धकार में भी प्रकाश बना रहता है। जो सब परिवार के सदस्यों को राह दिखाता रहता है। इसलिये वेद में कहा गया है कि–**"ज्यायस्वन्तः"** जो घर–परिवार समाज वाले, बड़े–बूढ़े अनुभवी वृद्धों वाले होते हैं, जो इन सब का अपने घर–परिवार में मान–सम्मान करते रहते हैं, जो इनके खान–पान एवं रहन–सहन की समुचित व्यवस्था करते रहते हैं, जो इनकी सुख–सुविधा का, इन की सेवा–शुश्रुषा का, इनके औषधोपचार का खूब ध्यान रखते हैं, और जहाँ तक सम्भव होता है, ये उन्हें वरदान मान कर उन्हें सदा अपने पास बनाए रखते हैं, जो इनसे दिल से भी अलग नहीं होना चाहते हैं, वेद शब्दों में ऐसे व्यक्ति, **"चितिनः"**–बड़े ही समझदार होते हैं, बड़े ही बुद्धिमान् होते हैं, बड़े ही अक्लमन्द होते है, बड़े ही विचारवान होते हैं या यों कहिये कि जो व्यक्ति समझदार बुद्धिमान्–अक्लमन्द विचारमान होते हैं, वे सदा बड़े–बूढ़े अनुभवी जनों को अपने घर–परिवार वा समाज में बनाएँ रखना चाहते हैं, उनकी अपने यहाँ नित्य–प्रति–सेवा–शुश्रुषा करना चाहते हैं, उनको नित्य प्रतिमान–सम्मान पूर्वक, प्रणाम कर उनके आशीर्वाद से अपने को धन्य–धन्य करना चाहते हैं, और अगर कभी भी किसी कारणवश उनसे अलग भी होना पड़ता है या पृथक् भी होना पड़ता है, तो वे उसको ऐसा महसूस करते हैं कि जैसे उनकी कोई बड़ी भारी मूल्यवान् वस्तु उनसे छिन गई हो, बड़ी भारी निधि उन से गुम हो गयी हो!

सो वेदानुसार तब बुद्धिमान्–अक्लमन्द मनुष्यों को यह चाहिये कि वह इन बड़े–बूढ़े अनुभवियों को घर–परिवारों में बनाए रखें, इनकी सुख–सुविधा का पर्याप्त ध्यान रखें, इनकी दवा और परहेज का ध्यान दें, इनके कपड़े–लत्ते आदि–आदि की सुन्दर–सुन्दर व्यवस्था करें, नित्य प्रति इनकी पूजा करें, और इनसे प्यार और आशीर्वाद को पाकर अपने को निहाल करें.....।

दशम रश्मि

अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत। –अथर्व० ३.३०.५

एक–दूसरे के लिये मधुर बोलते हुए आगे बढ़ो।

तुम परस्पर एक–दूसरे के प्रति मधुर बोल बोलते हुए आगे बढ़ो।

व्याख्या–हे घर–परिवार वा समाज में रहने वाले मनुष्यो! घर–परिवार वा समाज में जब तुम रहोगे तो उसमें वृद्ध भी होंगे, युवा भी होंगे, और बालक भी होंगे। अर्थात् उसमें बड़े–बूढ़े भी होंगे, जवान भी होंगे, और बच्चे भी होंगे। ऐसा होने पर अगर तुम 'चित्ति' होगे, समझदार होंगे, बुद्धिमान् होंगे, अक्लमन्द होंगे, विचारशील होंगे, तो तुम उन सब से कभी भी वियुक्त नहीं होगे, अलग नहीं होगे। ऐसी अवस्था में वहाँ एक ही धुरा के नीचे रहकर काम करने वाले अर्थात् मिल–जुल कर कार्य भार को आगे बढ़ाने वाले होते हुए तुम सब परस्पर (अन्यः अन्यस्मै वल्गुवदन्तः एत) एक–दूसरे से सस्नेह–स्नेहपूर्वक मधुर बोल बोलते हुए आगे बढ़ो।

स्मरण रखिये कि भले ही तुम कितने भी बड़े समझदार क्यों न हो जाओ, बुद्धिमान्–अकलमन्द क्यों न हो जाओ, और समझदार होकर घर–परिवार में बड़े–बूढ़ों वाले वा बड़े–बूढ़ों का मान–सम्मान करने वाले, उनको सिर आँखों पर बिठाने वाले क्यों न हो जाओ, यहाँ तक कि तुम उन सब से अलग–विलग भी नहीं होना चाहो, और भले ही तुम सब एक धुरा के नीचे वर्त्तमान रहते हुए मिल–जुल कर घर–परिवार एवं समाज को सब प्रकार से ऊपर उठाने और आगे बढ़ाने वाले भी क्यों न हो जाओ, पर एक बात स्मरण रखिये कि अगर तुम्हें बोलना न आया, तुम को एक–दूसरे के प्रति शिष्ट–सुन्दर एवं प्रिय बोलना न आया, अर्थात् तुम्हे परस्पर एक–दूसरे के प्रति प्रेम–सौहार्द के साथ मधुर प्रिय बोलना न आया, अर्थात् तुम परस्पर एक–दूसरे से मधुर प्रिय बोल नहीं बोल सके, परस्पर एक–दूसरे के प्रति भी मीठे बोल नहीं बोल पाए,

तो फिर हृदय से चाहते हुए भी तुम मिल कर के रह न सकोगे–एक उद्देश्य के लिए मिल–जुल कर कार्य नहीं कर सकोगे, वरन् तुम तो फिर एक–दूसरे से अलग–थलग होकर अपनी अपनी डफली और अपना–अपना राग अलापते रहोगे।

मुझे याद है कि पंजाब में एक सज्जन थे जिनके सम्भवतः ५ बच्चे थे। अर्धाङ्गिनी सम्भवतः तब साथ छोड़ गयी थी, अर्थात् स्वर्ग सिधार गयी थी, जबकि वे ४०–४५ वर्ष के ही थे। तब से वे बिचारे बच्चों को भोजन आदि बना–बना कर खिलाते–पिलाते और स्कूल पहुँचाते रहे, और साथ–साथ व्यापार आदि करते हुए, साधन भी जुटाते रहे। धीरे–धीरे उन्होंने अपनी बेटियों का विवाह करके दो बेटों का विवाह भी कर दिया। एक बेटा बच गया जो कि अभी पढ़ ही रहा था। शरीर कुछ ऐसा रुग्ण था कि डॉक्टर ने नमकादि भी बहुत हल्का खाने को बताया था। एक–दो बार उसने अपने बहु–बेटे को कहा कि–"मेरे लिये जरा दाल–शाक में कम नमक डाल दिया करें।" दो–चार दिन ऐसा होने के बाद पुनः वैसा ही सब होने लगा। तब उसने अपने बेटे से कहा–"बेटा, बहु को कह दो कि मेरे लिये पहले दाल–शाक बिना नमक के निकाल दिया करे या फिर थोड़ा नमक डालकर दाल–शाक पृथक् बना लिया करे। फिर जिसको नमक कम लगे वे उनमें और डाल लिया करें। चाहे तो मेरे लिये दाल–शाक पृथक् बना लिया करें ताकि मुझे फिर कोई कष्ट न हो, मेरा शारीरिक रोग न बढ़ जाए, इस बात पर बेटे को बड़ा ही क्रोध आया और वह बोला–"पिताजी, खाना हो तो चुप–चाप खा लिया करो नहीं तो ढाबे पर जाकर खा लिया करो।" यह सब कहकर वह लाठी लेकर पत्नी को मारने दौड़े, यह सोचकर कि यह कम्बखत नहीं मानती, यह सब देखकर उनके पिता दौड़े और बेटे की लाठी वाला हाथ पकड़ कर कहा–"बस बेटा यह सब नहीं करना.....।"

बेटे के उन शब्दों का उस बाप पर जो प्रभाव पड़ा, वह ऐसा पड़ा कि उस व्यक्ति ने सोचा कि–"अब उसकी घर–परिवार में जगह नहीं रही। चार लड़कियों के बाद का यह लड़का था अतः बड़े लाड–प्यार से उन्होंने उसको पाला–पोसा था। और उस दिन तो वे प्रातःकाल २०० तोले सोना जो उनके

पास था वह भी सन्ध्या करने के उपरान्त अपने हाथ में लिये हुए थे, यह सोचकर कि मैं अब इसका क्या करूँगा, दूसरे दोनों बेटे छोटे हैं, वे इसे सम्भाल नहीं पायेंगे। यह समझदार है। आगे चलकर इसके तीन हिस्से करके तीनों में बाँट देगा, और अगर नहीं भी बाँटा तो इसकी दो बेटियाँ हैं, उनके विवाह आदि में काम आ जायेगा। पर ज्यों ही जब उसने पुत्र को ये शब्द कहे कि–जरा बहु को कह दो कि दाल–शाक में नमक कम डाल दिया करें और इस पर जो उपर्युक्त शब्द इस पिता को सुनने को मिले, तो झट उस पिता ने सोने को अपनी बगल में दबा लिया और एकान्त में जाकर सोच–विचार किया कि–अब इस घर में मेरी जगह नहीं है, अतः मुझे अब अपनी राह तलाश करनी चाहिये। सो बहुत रोकने पर भी वे अन्त में आर्य वानप्रस्थ आश्रम ज्वालापुर में आ गए और दो सौ तोला सोना बेचकर पैसे बैंक में रख दिये। आगे चलकर घर में से भी बेटा उसको कुछ भेजता ही रहा। पर उन्होंने मुझे अनेकों बार वे शब्द सुनाए होंगे और जब भी वे उन्हें सुनाते रहे, तो दुःख के मारे विह्वल होते रहते। सहस्रों वैराग के उपदेश और भजन सुनने पर भी और मेरे प्रायः समझाने पर भी जब उनको बेटे के वे शब्द याद आते, और मुझे वे सुनाते, तो बड़े ही दुःखी होकर रोने लगते। ऐसे ही एक दूसरा सज्जन है जिसके चार पुत्र हैं। चारों ही विवाहित हो गए, चौथा कुछ अधिक ही शराब आदि पीता था। एक दिन वह अपनी पत्नि को बुरी तरह मारने लगा, तो पिता से नहीं रहा गया। वह झट आया और उसको हटाते हुए कहा कि–"आप मेरी बहु को नहीं मार सकते।" इस पर उसने पिता पर भी हाथ उठाया और जो उसका कुशब्दों से अपमान किया। इसका तो उन पर इतना बुरा असर हुआ कि उसने गृह ही त्याग दिया। वह सपत्नीक हरिद्वार आ गया। तब से वह यहाँ रह रहा है। अब यह घर जाने का नाम ही नहीं लेता। इन सब कारणों से यही ज्ञात होता है कि अन्य सब बातों में ठीक रहते हुए भी मनुष्य को चाहिये कि वह ऐसा बोल बोले जो स्नेह–प्यार और मान–सम्मान् से युक्त हो! वल्गु कहते हैं सुन्दर–सुखद बोलों को।

बड़े–बूढ़े एवं अन्य सब परिवार के सदस्यों को घर–

परिवार वा समाज के उत्थान में एक–जुट होकर लगना चाहिये। ऐसा करते हुए वे सब परस्पर यह ध्यान रखें कि एक दूसरे से वे मधुर–प्रिय ही बोलें, विशेष कर वृद्धों से। क्योंकि वे सब और कुछ न भी चाहें पर स्नेह–सम्मान तो उनको चाहिए ही। क्योंकि–**"मानो ही महतां धनम्।"** बोल भी उनसे सुन्दर सुखद ही बोले जाएँ। तभी ही उनकी आत्मा प्रसन्न होती है। और प्रसन्न आत्मा उस घर–परिवार वा समाज के लिए जो कुछ कर सकता है, वह अन्य कहाँ कर सकता है? चण्डीगढ में एक परिवार में एक वृद्ध माँ १३५ वर्ष की थी वह सुई में धागा स्वयं डाल लेती थी। उसके घर के सभी सदस्य चाहे वे अपने कार्य पर जा रहे हों वा बच्चे स्कूल जा रहे हों, सभी उन्हें देवता मानकर बड़े आदर से उनके चरणों पर प्रणाम करके ही जाते थे। इस पर उनके हृदय से आशीर्वाद भरे बोल जब निकलते थे तो सब बड़े ही प्रसन्न हो–होकर अपने कार्योंपर जाते थे। उनका कमरा ही मानो सब के लिये एक मन्दिर था। उस मन्दिर में स्थित माँ दादी, पड़दादी आदि के रूप में वर्त्तमान उस देवता को सब पूजते थे। जिस दिन वह नहीं रहे तो सब सोचने लगे कि अब अपने इस घर में स्थित इस मन्दिर में किससे कहे हुए 'एत'–आगे बढ़ो, ऊँचे उठो। वह भी ज्ञान पूर्वक आगे बढ़ो, ऊँचे उठो। ऐसे समझदारी से आगे बढ़ो, ऊपर उठो कि तुम्हें कुछ विशेष उपलब्धियाँ हों, तुम्हारी कुछ विशेष उन्नति हो, तुम्हारी कुछ विशेष प्रगति हो।

पिछले दिनों एक युवक का वाग्दान–सगाई हुई, तो फिर माता–पिता एवं ससुराल वालों ने कहा कि अब शीघ्र विवाह कर लो। तो इस पर वह अपने पूज्य पिता जी से बोले कि–"५–७ मास सब्र करो, मेरी भी एक तीव्र इच्छा है कि मैं अपनी ट्रेनिंग विशेष में रीकार्ड बीट करूँ सो इसके लिए मुझे आप सब का प्यार और आशीर्वाद का सहयोग चाहिये।" जिन प्यार भरे बोलों से उसने यह सब कुछ निवेदन किया, उसको सुनकर उसके माता–पिता, भाई आदि ने उसको सहर्ष स्वीकार किया। और उसे दिल से लगाकर कहा–"बेटा तुम्हारी यह हार्दिक इच्छा–तमन्ना पूर्ण हो।" फिर क्या था उस युवक ने ९६.५ प्रतिशत अंक लेकर रीकार्ड तोड़ा। इस पर प्रसन्न होकर

उसको उस संस्था ने साढ़े पाँच तोले सोने का मेडल प्रदान कर यथोचित सम्मान दिया। उसने अपनी इस योग्यता से अपनी संस्था का मान बढ़ाया, माँ–बाप का नाम रोशन किया। इससे गवर्नमेण्ट ने उसको बहुत ऊँचे पद पर तुरन्त ही प्रतिष्ठत कर दिया। माँ–बाप ही नहीं वरन् ससुराल के सब महानुभाव भी इस से फूले नहीं समाए। सचमुच जब घर–परिवार चेतन देवता की स्थापना करेगें तभी तो ऐसे दिव्य घर परिवार बनेंगे ?

घर–परिवार वा समाज में एक ही उद्देश्य की ओर अग्रसर होने वाले प्राणियों में जब परस्पर स्नेह नहीं होता, प्यार नहीं होता और परस्पर एक–दूसरे से सुन्दर–सुखद वाणी का प्रयोग नहीं किया जाता, तो फिर वहाँ विघटन पैदा होता है, तब वे सब बिखरने लगते हैं। उन सब का फिर जो एक लक्ष्य होता है, जो एक उद्देश्य होता है, जो एक ध्येय होता है–''घर–परिवार वा समाज को ऊपर उठाना, आगे बढ़ाना।'' वह सब की आँखों से ओझल होने लगता है, और आ जाती है यह चर्चा, यह चुगली, यही निन्दा आदि कि–''उसने मुझे यह कहा और मैंने उसको यह कहा। उसने मुझे बुरा–भला कहा पर मैंने उसको खरी–खरी सुना कर ईंट का जबाब पत्थर से दे दिया।'' इस प्रकार बस फिर उनके भीतर का विवेक–समझदारी आदि सब काफूर हो जाते हैं। सभी दूसरे को फिर नीचा दिखाने पर तुल जाते हैं। जो धन–वैभव–शक्ति–बुद्धि और समय आदि जो कभी घर–परिवार वा समाज को उठाने में लगा करते थे वही अब उसी इस घर–परिवार वा समाज को उठाने में लगा करते थे वहीं अब उसी घर परिवार के विनाश में लग जाते हैं। धन–वैभव–शक्ति–बुद्धि–समय, निन्दा–स्तुति में वा लड़ाई–झगड़ों में, चर्चाओं में, मुकदमों में लग जाने से बड़ी हानि होती है। इस प्रकार जब घर–परिवार–समाज को उठाने का जब ध्येय ही समाप्त हो जाता है तो फिर भला उन्हीं की क्या उन्नति होगी ? इसलिये इस मन्त्रांश में एक बात और बड़ी सुन्दर कही गयी है, वह यह कि–''अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत।'' तुम सब परस्पर एक–दूसरे से मधुर–प्रिय सुन्दर सुखद वचन बोलते वा परिवार के सदस्य प्यार से जब मिल बैठते हैं और बुद्धिमानी से एक–दूसरे के सम्मुख स्नेह पूर्वक अपने विचार रखते हैं।

और वे विचार अगर सब की समझ में आ जाते हैं, तो फिर उन विचारों के आधार पर बना हुआ उस घर का वह उद्देश्य फिर उस एक व्यक्ति का नहीं वरन् सारे परिवार का बन जाता है। तब अगर उस घर का एक बालक वा युवक जी–जान से ध्येय के लिए रात–दिन एक करके पढ़ता–बढ़ता है, तो माँ–बाप अगर उसके समीप होते हैं तो वे उसकी सुव्यवस्था में रात–दिन एक कर देते हैं। उनके हृदय से, उनके रोम–रोम से उसके लिये फिर प्यार और आशीर्वाद पूर्वक सहज ही प्राण प्रिय प्रभु से प्रार्थना निकलने लगती है। बच्चे आदि भी उस वातावरण से प्रभावित हुए–हुए उसके लिये अपने ढंग से प्रभु से पुकार करते हैं। तब घर में कुछ ऐसा हो जाता है कि जैसे वह युवक ही नहीं सारा घर–परिवार ही उसके उद्देश्य में एक–जुट होकर रीकार्ड–बीट करने चला हो। जब यह सब कुछ हो जाता है तो बेटा अपने अद्वितीय सफलता पा लेता है। घर–परिवार वा उस समाज में आते ही जब वह माँ–बाप को आकर प्रणाम करता है तो माँ–बाप स्नेहपूर्ण अश्रुओं से उसे दिल से लगाकर कहते हैं–''बेटा! तूने खूब मेहनत की, इसलिए तू अपने उद्देश्य में सफल हो गया।'' बेटा बोलता है–''माँ जी! पिताजी! मेहनत तो बहुतों ने की, पर मुझे लगता है मेरी मेहनत के साथ मेरी देवता स्वरूप मेरी माँ का और देवता स्वरूप मेरे पिता का आशीर्वाद था, तभी तो यह ऐसा सब कुछ हुआ।'' बहन बोली–''भैय्या! तूने खूब मेहनत की और सफल हुआ। बोलो मुझे क्या खिलाओगे ?'' भैय्या बोला–''बहन! तेरी प्रार्थना से ही तो यह सब कुछ हुआ है। तुझे कुछ नहीं खिलाऊँगा तो फिर भला और किस को खिलाऊँगा।'' श्वसुर को पता लगा। वह दिल्ली गया, उसको मिला और बधाई दी, तो उस होने दामाद ने चरण छुए। श्वसुर ने बड़ा ही प्यार किया और कहा–''बेटा! तू धन्य है, तूने खूब मेहनत की।'' वह बोला–''पिताजी! मेरी मेहनत में उस समय रस आ गया जब आप सब ने मुझे शीघ्र ही विवाह पर मजबूर न करके उद्देश्य के प्रति मुझे प्यार से आशीर्वाद दिया। आप सब के प्यार और आशीर्वाद ने मुझे उठा लिया। मुझे लगता है कि वह मेरे परिश्रम का परिणाम नहीं, आप सब के प्यार और आशीर्वाद का परिणाम

है।'' उसके यह सब कहने पर उसके माता-पिता, श्वसुर आदि बड़े प्रसन्न हुए। सब वह मेडल उस घर-परिवार एवं ससुराल वाले हम सब को बड़े प्यार से ऐसे दिखाते रहे जैसे कि उन घर-परिवार, ससुराल वालों ने अपनी-अपनी मेहनत से उसे अर्जित किया हो। सच-मुच बात भी यही थी कि उस लक्ष्य की सिद्धि के लिये चहुँ ओर से उन सब महानुभावों का अपना-अपना ही योगदान था, तभी वे सभी फूले नहीं समा रहे थे, परस्पर सब को बधाई दे रहे थे, और मिठाई खिला रहे थे। इसी विचार को लक्ष्य बनाकर ही तो वेद ने घर-परिवार वा समाज वालों को उपदेश दिया कि-''अन्यः अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत''-तुम सब परस्पर एक-दूसरे से मधुर-प्रिय सुन्दर-बोल बोलते हुए ज्ञानपूर्वक सब एक-जुट होकर अपने उद्देश्य के लिए आगे-बढ़ो, ऊँचे उठो। अपने-अपने ढंग से सब घर-परिवार वालों का लक्ष्य प्राप्ति में योगदान होना चाहिए, तभी ही उस में सहज सफलता मिलती है।

प्रथम रश्मि

कदावन्तर्वरुणे भुवानि। –ऋ० ७.८६.२

न जाने कब मैं प्रभु के हृदय में स्थान पाऊँगा?

मनुष्य जब यह देखता है कि नित्य नई–नई उत्पत्तियाँ हो रही हैं, नित्य नए–नए प्राणी उत्पन्न हो रहे हैं, नित्य नई–नई आकृतियाँ और नई–नई प्रकृतियाँ सम्मुख आ रही है, हर रोज़ नई–नई शक्लें और नई–नई अक्लें सामने आ रही हैं, प्रतिदिन नए–नए पौधे पैदा हो रहे हैं, नए–नए बीज अंकुरित हो रहे हैं, हर ऋतु में सुन्दर–सुन्दर फूल खिल रहे हैं, सुन्दर–सुन्दर स्वादिष्ट–स्वादिष्ट फल पैदा हो रहे हैं, नाना प्रकार के अन्न–अनाज उत्पन्न हो रहे हैं। इस जग में नित्यप्रति कोई आ रहे हैं और नित्यप्रति ही इस जग से कोई जा रहे हैं, अर्थात् कोई (जन्म) रहे हैं और कोई मर रहे हैं। यहाँ कोई हँस रहे हैं, और कोई रो रहे हैं, कोई नाच रहे हैं, और कोई गा रहे हैं, कोई उठ रहे हैं, और कोई बैठ रहे हैं, कोई चल रहे हैं, कोई रुक रहे हैं, कोई जाग रहे हैं, कोई सो रहे हैं, कोई खुशी के मारे फूले नहीं समा रहे हैं और कोई दुःखों के मारे कुम्हला रहे हैं। फिर यह देखने में, सुनने में आता है कि यह सब कुछ जो कुछ हो रहा है–जो कुछ सूर्य, चन्द्र, वायु, जल, फूल–फल, अन्न–अनाज, जीव–जन्तु आदि के रूप में सामने आ रहा है, यह सब कुछ बड़ी बुद्धिमानी से हो रहा है। प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति में, उसकी रचना में, उसकी बनावट में ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे कोई बहुत बड़ा बुद्धिमान् व्यक्तित्व उसके पीछे कार्य कर रहा हो। हम आँखों को देखते हैं, आँखों की रचना–बनावट को देखते हैं, आँखों के कार्य देखते हैं, आँखों का व्यापार देखते हैं तो ये आँखें ही इन आँखों को देखकर चकित रह जाती हैं। यह सोच कर कि न जाने किसने ये बनाई हैं? फिर कितने हित से बनाई हैं, और फिर इस प्राणी को इन से देखने–भालने में कोई दिक्कत न हो, तो इसके लिये उसने सूर्य–चन्द्र, विद्युत, अग्नि

आदि का भी प्रबन्ध कर दिया है। फिर हर जीव की आँखों को भी अपने–अपने ढंग से बनाया है, फिर अपनी ओर से इन्हें ऐसा बनाया है कि यदि वह व्यक्ति सावधान रहे तो जीवन भर उसकी आँखें उसको राह दिखाती रहेंगी, फिर उसको ही नहीं वरन् अन्यों को भी वे राह बताती रहेंगी, स्वयं ये पढ़ती और औरों को भी पढ़ाती रहेंगी...। ऐसे ही क्या तो निराले ये श्रोत्र हैं, कर्ण हैं, कान हैं, क्या तो निराली यह नासिका, नाक है, क्या ही विचित्र यह जिह्वा है, जो अपने दोनों गुणों के कारण विशेष महत्व रखती है। एक तो बोलने का और दूसरा चखने का, स्वाद लेने का, खाने–पीने का। न जाने कैसी–कैसी वस्तुएँ, कैसे–कैसे पदार्थ, कैसे–कैसे व्यक्ति इस जगत् में देखने–सुनने को मिलते हैं, कैसे–कैसे जलचर–थलचर और नभचर संसार में दिखाई देते हैं, कैसी–कैसी प्यारी–प्यारी मछलियाँ, कैसे–कैसे रेंगने वाले सर्प आदि प्राणी, कैसे–कैसे जंगली हिरण, चीता, शेर, हाथी और कैसे–कैसे ये ग्राम्य गौ, घोड़ा, भेड़, बकरी आदि–आदि पशु, कैसे–कैसे ये कोयल–कौआ, तोता–मैना, हंस आदि–आदि पक्षी हैं, इत्यादि। अपने–अपने ढंग से ये सभी प्राणी अपने–अपने कर्मों को करने और अपने–अपने कर्मों के फलों को भोगने के लिये या नानाविध प्रयोजनों को सिद्ध करने के लिये इस संसार में आए हुए हैं। यह सब कुछ किसी उद्देश्य से आ रहा है और किसी उद्देश्य से हो रहा है।

क्या तो सूर्य–चन्द्र और क्या–क्या निराले इनके कार्य, क्या तो मेघ, वृष्टि, ये जल के नानाविध स्रोत–प्रवाह, ये ताल–तलैयाँ, ये नदी–नद और ये समुद्र एवं क्या–क्या इनकी उपयोगिताएँ हैं, क्या–क्या अद्भूत मूल्यवान् पदार्थ लोहा, ताम्बा, पीतल, चाँदी, सोना, हीरे, मोती, जवाहरात आदि–आदि, कैसे–कैसे उपयोगी मूल्यवान् द्रव्य–मिट्टी का तेल, डीज़ल, पेट्रोल आदि–आदि इस जगत् में हैं, और ये सब किसी विशेष प्रयोजन से हैं।

सुनते हैं किसी एक अद्वितीय दिव्य देव की यह सब करामात है, किसी एक ही परम देव की यह सब देन है, किसी एक ही अनुपम शक्ति की यह सब रचना है, यह सब कृति है, जो अपने जीवरूप प्यारे पुत्रों के प्रति बड़े प्यार से प्रवाहित हो रही है। यह

सतत् प्रकाश का प्रवाह, यह निरन्तर जल का प्रवाह, यह अनवरत जीवन–प्रद प्राणवायु का प्रवाह यह लगातार औषधि–वनस्पतियों का प्रवाह, यह प्रतिदिन फूल–फलों का प्रवाह, यह अहर्निश धन–धान्य का प्रवाह, यह दूध–दही–घी का प्रवाह, यह नानाविध मीठे–खट्टे, तीखे–कड़वे रसों का प्रवाह आदि–आदि, यह सब सिद्ध करता है कि उस अद्वितीय परम देव का अपने इन प्रिय पुत्रों, जीवों पर कितना स्नेह है...। कहीं ये अन्धेरे में ठोकर न खाएँ, कहीं ये पानी बिन प्यासे न रह जाएँ, कहीं ये अन्न बिन भूखे न रह जाएँ, कहीं ये औषध के अभाव में पीड़ा से कराहते न रह जाएँ, कहीं दूध–दही–घी के बिना रुखे–सूखे न रह जाएँ, कहीं प्राण–वायु बिन इन का दम न घुट जाए, कहीं किसी तरह के मीठे–खट्टे रस के लिये ये तरसते न रह जाएँ, आदि–आदि सोचकर यह सब कुछ प्रभु ने अपने इन जीवों के लिये प्यार से प्रवाहित किया है।

यह सब कुछ उसने इतना बुद्धिपूर्वक बनाया है, इतना सोच–समझ कर बनाया है कि बड़े–बड़े बुद्धिमान् भी इस सब को देख कर चकित रह जाते हैं।

हम सोचते हैं यह 'भूः'–भूमण्डल यह 'भुवः'–अन्तरिक्ष यह 'स्वः'–द्युलोक आदि किस की रचना हैं ? तो वेद बताता है कि–यह सब एक ही वरणीय वरुणदेव की रचना है। उसी एक ही दिव्य देव ने इस को बनाया है और वह भी बड़ा सोच–समझ कर–बड़ा बुद्धिपूर्वक बनाया है, अपनी महिमा से बनाया है। और इस को बनाकर यों ही नहीं छोड़ दिया है। उसने इस सब की रचना भी की है, इस को सम्भाला भी है, इस को थामा भी है। उसने केवल इस द्यु–भू को बनाया और थामा ही नहीं है, अपितु इस सकल ब्रह्माण्ड में रहने वाले सब प्राणियों को भी उत्पन्न किया है और उनको वह सम्भाल भी रहा है। इन सब प्राणियों को अपनी न्याय–व्यवस्था से वह जैसे–जैसे उनके कर्म होते हैं, वैसे–वैसे फल भी प्रदान करता रहता है। इन सब प्राणियों को सदा सर्वत्र वह सन्मार्ग की ओर प्रेरित भी करता रहता है। फिर भी वे तदनुसार नहीं चलते हैं, तो वह उन्हें उन्हीं के सुधार के लिये यथोचित दण्ड भी देता है। वह पृथिवी और पृथिवी के, अर्थात् इस भू–भूमण्डल और इसके प्राणियों को ही

नहीं वरन् इससे १३ लाख गुने बड़े गतिशील इस सूर्य को भी धारण किये हुए है, और न जाने वह किन–किन और ग्रहों–उपग्रहों को धारण किये हुए है ? समय आने पर वह इन सब का संहार भी करता है....।

इस अद्भुत प्यारे प्रभु देव के इस विशाल ब्रह्माण्ड को देखकर, इस में नानाविध प्राणियों को देखकर, उनके लिये इस महान् विशाल खाने–पीने, रहने–सहने, पहनने–ओढ़ने, आदि–आदि के प्रबन्ध को देखकर एक मनुष्य का सिर सम्मान से नत हो जाता है, हृदय श्रद्धा से भर जाता है, और एकदम वह सोचने–विचारने लगता है कि–"पता नहीं, वह अद्वितीय दिव्य देव कौन होगा ? कैसा होगा ? कितना महान् होगा ? कितना सशक्त होगा ? कितना बुद्धिमान् होगा ? कितनी सूझबूझ वाला होगा ? कितना विशाल उसका हृदय होगा ? कितनी बड़ी उसकी सामर्थ्य होगी ? कितना दिव्य उसका मस्तिष्क होगा ? कितना अद्वितीय उसका ज्ञान होगा ? कितना अलौकिक उसका विज्ञान होगा ? कितना हित भरा उसका हृदय होगा ? कितना दिव्य उसका दिल होगा ? कितना अनोखा उसका प्यार होगा ? कितना दिव्य उसका दुलार होगा ?" मेरा जन्म हुआ, भूख से मेरे मुँह से 'ऊँ' ही निकला था कि उस परम प्यारे प्रभु ने कवोष्ण–कोसे दूध से भरे दो (स्तन) थर्मस मेरे लिये उपस्थित कर दिये। ये माता–पिता आदि तो तब मेरे लिये दो–चार कपड़े–लत्ते मात्र ही लाए थे, जब मेरा जन्म हुआ था, पर उसने तो मेरे जन्म से भी पूर्व मेरे खाने–पीने, रहने–सहने का प्रबन्ध भी कर दिया था। मेरे माँ–बाप में उसने मेरे प्रति इतना स्नेह–मोह–लाड–प्यार भर दिया कि वे सहज ही मेरे लिये तब सब तरह से सचिन्त रहने लगे और मैं निश्चिन्त होकर खाने–पीने, पहनने–ओढ़ने और रहने–सहने लगा।

न जाने वह प्यारा प्रभु कितना महान् होगा ? कितना दिव्य होगा ? कितना निराला होगा ? कितना अद्वितीय होगा ? यह सोच कर मेरे मन में एक इच्छा उत्पन्न हुई, एक जिज्ञासा जगी कि–"मैं उसको जानूँ, मैं उसके दर्शन पाऊँ, मैं उसको देखूँ, मैं उसको निहारूँ और धर दूँ उसके पावन चरणों में अपना यह उत्तमांग, अपना यह सिर, और वह भी स्नेह और सम्मान के

साथ, श्रद्धा और आभार के साथ....।'' तब मैं जप–तप करने में लग गया, स्वाध्याय और सत्संग में भी जुट गया। मैं भजन और कीर्तन में भी झूमने लगा। मैं साधु और सन्तों के संग में भी बैठने लगा। मैं पद्मासन–सिद्धासनों में बैठ–बैठ कर प्राणायाम पूर्वक प्रत्याहार का अभ्यास भी करने लगा। मैं मिन्टों नहीं, घण्टों–घण्टों बैठ-बैठ कर धारणा–ध्यान और समाधि को सिद्ध करने का प्रयत्न भी करने लगा, पर मुझे तब भी उस वरणीय वरुण देव का दर्शन नहीं हो सका। होता भी कैसे? क्योंकि मैंने उस वरणीय वरुण देव के भीतर अर्थात् उसके हृदय में अपना स्थान ही नहीं बनाया। कदाचित् मैंने कुछ ऐसा विशेष अभी नहीं किया होगा जिससे वह मुझ पर अपनी अनुकम्पा करता। पर फिर भी मैं अभी निराश नहीं हूँ, अभी हताश नहीं हूँ। वेद के शब्दों में मेरे भीतर अब भी एक तड़प है, वह यह कि–(कदा नु वरुणे अन्तः भुवानि) न जाने कब वह सौभाग्यशाली दिन आयेगा कि जब मैं उस वरणीय वरुण देव के भीतर प्रवेश पाऊँगा–उसके हृदय में अपने लिये स्थान बना पाऊँगा? न जाने कब अपने को उसके प्यार का पात्र बना पाऊँगा? तथा उसका साक्षात्कार कर सकूँगा? न जाने कब, न जाने कब, न जाने कब?

द्वितीय रश्मि (i)

किं मे हव्यमहृणानो जुषेत। –ऋ० ७.८६.२

अर्थ–(किं मे हव्यम् अहृणानः जुषेत) क्या मेरे हव्य को वह वरुण बिना क्रोध किये, बिना खीजे हुए, बिना झुँजलाये हुए स्वीकार करेगा?

साधक एक ओर वरुण को देखता है–उस प्यारे प्रभु को देखता है जो कि सब प्रकार से शुद्ध–पवित्र है, पाप–तापों से वह सर्वथा–सर्वदा–सर्वत्र परे रहता है। स्वार्थ उसे छू तक नहीं सकता। उदार वह इतना है कि उससे बढ़कर तो क्या उसके समान भी कोई नहीं हो सकता। दिल का वह दरिया है। प्यासे को प्यास लगती है और वह दिल से पानी पीना चाहता है तो फिर वह उसके सम्मुख गिलास, जग, सुराई, घड़ा, मटका, ताल–तलैय्या या कूप–तड़ाग ही नहीं रख देता, वरन् उसके सामने वह बड़ी–बड़ी नदियाँ और नद बहा देता है, गंगा–यमुना, रावी और चिन्नाव तक बहा देता है, और कहता है–''ले तू इसे पी भी, इससे नहा भी, इससे कपड़े–लत्ते–पात्र आदि धो भी, और अपने खेत तथा बाग़–बग़ीचों को सींच कर हरा–भरा बना भी।'' विचार चातक तीन–चार बून्द जल माँग कर अपनी प्यास बुझाना चाहता है और उसके लिये वह हृदय से आनन्द–घन प्रभु से प्रार्थना करता है, पर वह प्रभु इतना उदार है कि दिल खोल कर बरसता है और चातक के साथ–साथ सारी धरती और धरती पर निवास करने वाले सारे प्राणियों को भी वह तृप्त कर देता है। मनुष्य को जब भूख लगती है और वह उसके लिये पुरुषार्थ भी करता है और प्रार्थना भी, तो फिर वह प्रभु उसकी मुट्ठी, झोली, कनस्तर कुठले आदि ही नहीं वरन् उसके घर–खेत–खलियान तक भी अन्न आदि खाद्य पदार्थों से भर देता है। मनुष्य प्रकाश की आवश्यकता अनुभव करता है, तो फिर वह इस धरती से १३ लाख गुना बड़े इस सूर्य के द्वारा इस सम्पूर्ण और सौर भूमण्डल को ही अपनी दीप्ति से देदीप्यमान कर देता है, अपने प्रकाश से प्रकाशमान कर

१. सम्भवतः वह पूर्णतया मृत नहीं होगा।

देता है। वह जब इस प्राणधारी जीव के उत्तम गुण–कर्म–स्वभावों को देखता है तो वह उसको शाबाश देता हुआ आनन्द, उत्साह और निर्भयता देता है। इतना ही नहीं, वह उसको सर्वत्र लाड–प्यार, स्नेह–सम्मान, फूल–फलों, दस्तों–गुलदस्तों, स्वागत–सत्कारों और खुशियों से विभोर कर देता है, धन–वैभवों से माला–माल कर देता है। फिर भी यदि वह उस मनुष्य को इस सब में डूबा हुआ नहीं देखता, वरन् इन सब स्नेह–सम्मानों से, धन–धान्यों से, ज़मीन–जायदादों से, कपड़े–लत्तों से, शाल–दुशालों से, रुपये–पैसों से, चाँदी–सोने से, नानाविध खाद्य–पेयों से, स्त्री–पुत्रों से, पुत्र–पौत्रों से, दुहितृ–दौहित्रों से, बन्धु–बान्धवों आदि–आदि से ऊबा हुआ देखता है, इन सब से ऊपर उठा हुआ, विरक्त हुआ–हुआ देखता है, तथा एक अद्वितीय दिव्य देव के लिये उसे तरसता हुआ देखता है, उसकी मधुर स्मृति में उसको तड़पता हुआ देखता है, उसकी खोज में उसे मारा–मारा फिरता हुआ देखता है, तो फिर वह उस साधक का वरण कर लेता है, फिर वह उसको अपने अद्वितीय स्नेह से, अनुपम लाड–प्यार से, दिव्य आनन्द से, अपने प्रिय दर्शन से, अपने पावन प्रकाश से कृतार्थ कर देता है।

पर यहाँ साधक को जब अपना हव्य नज़र आता है, जब अपनी भेंट दिखायी देती है। यद्वा जब वह इधर अपने हव्य–द्रव्य को देखता है, अपनी आहुति को देखता है, अपनी पुकार को देखता है, अपनी स्तुति–प्रार्थना और उपासना को देखता है और उधर वह उस महान् अद्वितीय दिव्य देव वरुण को देखता है, तो तब उसे शक होने लगता है, उसे सन्देह होने लगता है, उसे भय होने लगता है कि–इतना बड़ा व्यक्ति क्या मेरे इस तुच्छ हव्य को, मेरी इस तुच्छ भेंट को, मेरी इस सामान्य–सी पुकार को वा इस मुझ नादान की इस सामान्य–सी स्तुति–प्रार्थना और उपासना को बिना खीजे हुए, बिना क्रोध में आए हुए क्या स्वीकार कर लेगा ?

क्योंकि साधक सोचता है और देखता है कि एक ओर तो इतना बड़ा ब्रह्माण्ड है, दूसरी ओर यह मेरी हव्य आहुति, मेरी सामग्री ६ माशे, १२ माशे वा छटाँक दो छटाँक की है। फिर वह इतनी शुद्ध–पवित्र, इतनी साफ़–सुथरी भी नहीं है, घी है, घी की आहुति है, तो उसमें केसर–कस्तूरी आदि भी नहीं है। फिर

उस हव्य–द्रव्य में मूल्यवान् मिष्ट–पुष्ट–सुगंधित और रोगविनाशक पदार्थ भी कुछ विशेष नहीं हैं। फिर पता नहीं मेरा घृत भी उतना शुद्ध–पवित्र या गौ का है या नहीं है। क्योंकि वह बाज़ार का है, घर में स्वयं बनाया हुआ तो है नहीं। फिर यह मेरी सामग्री भी घर की तो है नहीं, बाज़ार की ही है, वह भी न जाने कैसी है ? भेंट में लाए हुए ये वस्त्र या प्रभु के नाम पर प्रदान किये हुए ये कपड़े भी नए नहीं वरन् पुराने हैं। वे भी घिसे–पिटे हैं। पता नहीं वे दूसरे के तन–बदन को भली–भाँति ढाँप भी सकेंगे वा नहीं, दूसरों की सर्दी–गर्मी को दूर भी कर सकेंगे या नहीं। कम्बल भी मेरे नाम के ही कम्बल हैं, क्योंकि जितने भी घटिया से घटिया मिल सकते थे, वे ही मैंने लेकर दिये हैं, प्रभु के नाम पर दिया हुआ यह मेरा भोजन भी घटिया से घटिया है, वह भी रहा–सहा ही है, वह भी बासी–बूसी, गला–सड़ा एवं बदबू मारने वाला ही है। अब जो भोजन मुझे ही नहीं भाता, मुझे ही प्रिय नहीं लगता, मुझे ही रुचिकर एवं स्वास्थ्यप्रद नहीं प्रतीत होता, तो वह मेरे उस प्राणप्रिय प्रभु को कैसे भायेगा कि जिस के नाम पर मैंने वह दिया है...।

साधक–भक्त–उपासक यह सोचता है कि–"मैं वरुण का दर्शन करना चाहता हूँ, उसको जानना चाहता हूँ, उसको अपने हव्य द्रव्यों की भेंट चढ़ाना चाहता हूँ, उसके लिये अपनी आहुति देना चाहता हूँ या अपने आपको हव्य बनाकर उसके चरणों में भेंट स्वरूप चढ़ाना चाहता हूँ, अपने आपको उस पावन प्रभु के प्रति समर्पित करना चाहता हूँ...।" पर फिर वह सोचता है कि मेरा जीवन वास्तव में (हव्यं–होतुं योग्यं हव्यम्!) हव्य–प्यारे प्रभु में होमने योग्य है भी कि नहीं ? क्योंकि हव्य द्रव्य में तो मिष्ट, पुष्ट, सुगन्धित और रोग विनाशक पदार्थ होते हैं। फिर वह हव्य द्रव्य घृत से संसिक्त होता है। तभी ही वह हव्य द्रव्य इस अग्नि में होमा जाता है। इसलिये यदि सचमुच मैं अपने आपको हव्य बना लूँगा, अपने जीवन को मिष्ट–पुष्ट, सुरभित–यशोमय तथा रोगविनाशक बना लूँगा और फिर उसको श्रद्धारूपी घृत से स्निग्ध कर लूँगा, तो फिर वह वरणीय वरुणदेव–वह पावन प्रभुदेव मेरे इस हव्य को, मेरी इस भेंट को सहज ही स्वीकार कर लेगा, और मुझे सब प्रकार से निहाल कर देगा, मुझे सब तरह से कृतार्थ कर देगा।

द्वितीय रश्मि (ii)

किं मे हव्यमहृणानो जुषेत। –ऋ० ७.८६.२

अर्थ– (किं मे हवयम् अहृणानः जुषेत) क्या मेरे हव्य को वह वरुण बिना क्रुद्ध हुए, बिना खीजे हुए प्रीतिपूर्वक स्वीकार कर लेगा?

साधक–भक्त–उपासक यह सोचता है कि–''मैं वरुण का दर्शन करना चाहता हूँ मैं उसको जानना चाहता हूँ, मैं उसको पाना चाहता हूँ, मैं उसको अपने हव्य द्रव्यों की भेंट चढ़ाना चाहता हूँ, मैं उसको अपनी आहुति देना चाहता हूँ, मैं अपने–आपको हव्य बनाकर उसमें अर्पित करना चाहता हूँ, पर मैं फिर सोचता हूँ–क्या मेरा हव्य इस योग्य है भी कि वरणीय वरुण देव उसको बिना झुञ्झलाए हुए सहज ही स्वीकार कर सके?''

साधक को क्यों ऐसा सन्देह है, क्यों ऐसा शक है, क्यों ऐसी शंका है? इसलिये न! कि वह देखता है कि वह पुकार तो प्रभु को रहा है–''हे मेरे प्यारे प्रभुवर! किसी तरह से मेरा खोया हुआ वैभव मुझे मिल जाए, किसी तरह से मेरी खोई हुई गाय–भैंस मुझे मिल जाए, किसी तरह मेरी खोई हुई नारी मुझे मिल जाए, किसी तरह मेरी खोई हुई पुत्री मुझे उपलब्ध हो जाए, किसी तरह मेरा यह मृत–सा पुत्र पुनः जी जाए, जैसे पंजाब में एक भक्त बाहर से तो भगवान् को पुकार रहा है, उससे प्रार्थना कर रहा है, पर उसको भगवान् की नहीं वरन् कई पुत्रियों के उपरान्त उत्पन्न हुए पुत्र के स्वस्थ होने की चाह है। तभी तो सारी रात वह पागलों की तरह जागता हुआ यही बड़–बड़ाता रहा कि–''भगवान्, इसे बचा लेना भगवान् इसे बचा लेना, भगवान् इसे बचा लेना....।'' सब घर के सदस्य बैठे हुए हैं। बच्चा पड़ा हुआ है, वह न हिलता है, न डुलता है, न ही वह सांस लेता है और न ही वह सांस छोड़ता हुआ प्रतीत होता है[1]। मृत जान कर सबने पिता की झोली से उसको उठाकर भूमि पर लिटा दिया है। पर पिता है कि फिर भी सारी रात वह

भगवान् इसे बचा लेना, भगवान् इसे बचा लेना ही की रट लगाए रहा।'' प्रातः होते ही उस बच्चे ने कुछ हिलना–डुलना शुरु किया, फिर धीरे–धीरे उसने आँखें खोलीं, तो उनकी बेटियों ने कहा–''पिताजी, पिताजी, पिताजी, भैय्या ने आँखें खोल दीं...।'' पिता ने उसे देखा तो अश्रुधारा से उसने प्रभु का धन्यवाद किया।

पर वास्तव में उस व्यक्ति की यह पुकार [यह आह्वान] प्रभु के लिये नहीं थी वरन् यह तो वस्तुतः उस बच्चे ही के जीवन के लिये थी। इसलिये प्रभु नहीं आया, प्रभु ने उसको दर्शन नहीं दिया...। वही व्यक्ति वर्षों के उपरान्त किसी आश्रम में मुझ (लेखक) को मिलता है और कहता है–''आचार्य जी! क्या बात है, मैं इतना सादा रहता हूँ, इतना सात्त्विक खाता–पीता हूँ, इतना स्वाध्याय करता हूँ, इतना विरक्त रहता हूँ, इतने भक्ति भरे वैराग्य के गीतों को झूमते हुए गाता हूँ, परन्तु फिर भी न जाने क्यों मुझे वह दर्शन नहीं देता? न जाने क्यों मुझे वह कृतार्थ नहीं करता?'' तब मैंने उन्हें यही कहा कि वह राजा वरुण जानता है कि इसको मेरी आवश्यकता नहीं है। बाहर से तो यह मुझे पुकारता है, पर भीतर से यह सांसारिक वस्तु, व्यक्तियों एवं स्थानों की ही चाहना करता रहता है, आदि–आदि।

इसी तरह मैं भगवान् की स्तुति करता हूँ तो इसलिये कि वह दयालु है, कृपालु है, न्यायकारी है, पक्षपात रहित है, सब तरह से सच्चा–सुच्चा है, इत्यादि–इत्यादि। पर मैं उसकी स्तुति इसलिये करता हूँ कि वह मुझ पर दया करे, कृपा करे, कहीं मेरा पुत्र सर्विस के लिये जाए तो उसे सहज ही सर्विस मिल जाए, उसे लाईन में, पंक्ति में न खड़ा होना पड़े। कहीं उसके साथ अन्याय हो रहा हो तो वह न्यायकारी प्रभु उसको न्याय दिलाए, कहीं वह पिछड़ रहा हो तो वह उसको आगे ले आए, यह सब कुछ मैं अपने वा अपने परिजनों के लिये चाहता हूँ, तभी मैं उसकी स्तुति–प्रार्थना–उपासना करता हूँ। पर अगर मैं सचमुच उसका सच्चा स्तोता होता, तो मैं भगवान् के इन गुणों के स्तवन से उससे अपने स्वार्थों की पूर्त्ति नहीं करना चाहता होता बल्कि मैं तो फिर प्रभु की कृपा, दया, न्याय, पक्षपात

रहित सब प्राणियों के प्रति किये जाने वाले प्रेमपूर्ण व्यवहारों से प्रभावित होकर मैं भी तब स्वयं दया, कृपा, न्याय, पक्षपात रहित होकर सब के प्रति व्यवहार करने लगता। तब वह प्रभु भी मुझ पर प्रसन्न होकर मुझे निहाल कर देता।

भक्त चाहता है, प्रार्थना भी करता है कि प्रभु उसको यह दे, वह दे। उसने उसे यह नहीं दिया, वह नहीं दिया, उसने उसका यह कार्य नहीं किया, वह कार्य नहीं किया, समय-समय पर यों वह गिले-शिकवे भी खूब करता है, प्रार्थना भी खूब करता है। प्रभु से माँगता भी खूब है, उसके द्वार पर हाथ भी खूब पसारता है, अञ्जलि भी फैलाता है, झोली भी फैलाता है, और यह भी कहता हुआ रोता है कि-''भगवन्! देख मेरे घर का कुठला खाली है, घर की बोरी खाली है, घर का कनस्तर खाली है, घर का झोला खाली है, यह खेत भी खाली है। अतः तू कृपा कर, दया कर, और मुझ को अन्न-धन आदि से माला-माल कर।'' इस प्रकार वह प्रार्थना तो खूब करता है, गिड़गिड़ाता भी खूब है, पर प्रार्थना के पूर्व जो पुरुषार्थ करना चाहिये, वह तो कुछ थोड़ा-बहुत भी नहीं करना चाहता, तो फिर भला उस पर वह प्रभु कैसे तो कृपा करे और कैसे उसे पूर्णकाम करे?

वह उपासना करता है, प्रभु के समीप बैठता है, आसन में बैठता है, रीड की हड्डी, ग्रीवा-गर्दन और सिर भी सीधा रखता है, हाथ जोड़ता है, आँखें बन्द करता है ताकि बाहर का कोई रूप-रंग वा दृश्य इसको आकर्षित न कर सके, अपने कानों में रुई वा मोम भी वह धरता है, ताकि उसे बाहर की कोई आवाज़ न सुनाई दे। मुख को भी वह बन्द किये रहता है, और वह किसी से बात भी नहीं कर रहा होता है। पर कहने को तो वह उपासना में बैठा होता है और संसार की सभी वस्तुओं, सभी व्यक्तियों तथा सभी स्थानों में अपनी सभी इन्द्रियों को बन्द किये हुए होता है, अर्थात् अब वह बाहर से किसी को निहारता हुआ भी नहीं प्रतीत होता, श्रोत्रों से किसी को श्रवण करता हुआ भी नहीं दिखाई देता, कानों से किसी को सुनता हुआ भी नहीं दिखाई देता, हाथों से कोई कार्य करता हुआ भी नहीं दिखाई देता, त्वचा से किसी का स्पर्श करता हुआ भी नहीं

दिखाई देता, चरणों से कहीं विचरता हुआ या दौड़ता-भागता हुआ भी नहीं लगता, और सचमुच प्रभु का यह प्यारा भक्त आसन लगाए उसी की ही उपासना में लीन, उसी के सन्निकट बैठा हुआ दिखाई देता है। इस प्रकार बाहर से तो यह एक बहुत ऊँचा साधक-उपासक लगता है, पर प्रभु कहता है कि-''यह तो मैं जानता हूँ कि यह कहने को तो मेरे पास बैठा हुआ है, पर भीतर से तो यह अपनी वस्तुओं, व्यक्तियों और स्थानों के समीप बैठा हुआ उन्हीं का ही उपासक बना हुआ होता है।''

एक व्यक्ति रेल में सन्ध्या कर रहा है। कहने को यह भक्त, यह उपासक प्रभु का भजन कर रहा है, उसकी उपासना करता हुआ उसी के ही पास बैठा हुआ प्रतीत हो रहा है, पर भीतर से यह अपने सामान के समीप बैठा हुआ उसी का ही उपासक बना हुआ है, तभी तो इसके मन में ये भाव आ रहे हैं कि-''कहीं कोई मेरी अटेची, बैग वा पर्स आदि-आदि न उठा ले।'' अतः बाहर से प्रभु-भजन करता हुआ प्रभु के समीप बैठा हुआ प्रतीत होते हुए भी वह मन से उन्हीं अटैची, बिस्तर आदि वस्तुओं के समीप बैठा हुआ, उन्हीं की उपासना करता हुआ, उन्हीं का उपासक कहलाता है। ऐसे ही एक माँ-बहिन सन्ध्या उपासना करती हुई कहने को तो वह प्रभु की उपासना करती हुई उसके ही समीप बैठी हुई प्रतीत होती है, पर भीतर से वह अपनी रसवती-रसोई-किचन में बच्चों के समीप बैठी हुई सोचती है कि-''सन्ध्या आदि के उपरान्त मैं आज बच्चों के लिये खीर बनाऊँ? या आलु वा मूली वा गोभी आदि के पराठे बनाऊँ?'' सन्ध्या करता हुआ एक व्यक्ति सन्ध्या में कहने को उपासक के रूप में अपने प्रभु के समीप बैठा हुआ है, पर भीतर से-''पता नहीं बच्चे ने होमवर्क किया कि नहीं, बेटी ने कुछ खाया कि नहीं? उसने माँ से स्कूल के लिये फीस ले-ली कि नहीं? या बेटा बाहर पढ़ता भी है कि नहीं? उसका बहुत दिनों से पत्र नहीं आया, पता नहीं उसका स्वास्थ ठीक भी है कि नहीं, उसके पास खर्चे के लिये पैसों आदि की कमी तो नहीं है, आदि-आदि।'' वह अपने बच्चों के समीप बैठा हुआ उन्हीं के विषय में ही सोचता हुआ उन्हीं की ही उपासना कर रहा है। हाँ, मौखिक शब्दों का उच्चारण मात्र भजन भी हो रहा है कबीर

के शब्दों में–

माला तो कर में फिरे, जीभ फिरे मुख माहीं।
मनुवा तो चहुँदिशि फिरे, यह तो सिमरन नाहीं॥

इसी प्रकार पिछली छुट्टियों में तो हम दिल्ली गए थे वहाँ ऐतिहासिक स्थान देखे थे, अब की छुट्टियों में कश्मीर या बम्बई आदि जायेंगे। देखो बच्चे क्या कहते हैं, इत्यादि। तो इस तरह कहने को हम उपासक उस प्यारे प्रभु की उपासना कर रहे हैं, पर भीतर से हम बच्चों के साथ गर्मियों की छुट्टियों में घूमने का प्रोग्राम बना रहे हैं।

ऐसे ही कहने को मैं सन्ध्या कर रहा हूँ, एकान्त में भी मैं बैठा हुआ हूँ, आँखें भी मेरी बन्द हैं, मुख भी मेरा बन्द है, सिद्ध आसन वा पद्मासन में भी मैं बैठा हुआ हूँ, मन ही मन मन्त्रोच्चारण भी मैं कर रहा हूँ, या ध्यान–भजन करता हुआ कहने को मैं प्रभु के समीप बैठा हुआ भी मैं प्रतीत होता हूँ, परन्तु ज्यों ही मुझे पुत्री की वा पुत्र की आवाज़ सुनाई दी जो कि बाहर पढ़ते हैं, सम्भवतः छुट्टी में आए होंगे या मेरी मातृ–तुल्या भगिनी विदेश से आई है, उनकी मधुर प्रिय ध्वनि मुझे सुनाई दी। सब उनसे मिल रहे हैं, बातचीत करते हुए फूले नहीं समा रहे हैं, और मैं सन्ध्या कर रहा हूँ, प्रभु के समीप बैठ कर उसकी उपासना कर रहा हूँ? पर यह सब कहने को ही अब मैं कर रहा हूँ, बाहर से ही सब करता हुआ लगता हूँ, पर भीतर से तो मैं अब कहाँ प्रभु के पास बैठा हूँ? मन से तो अपनी मातृ–तुल्या भगिनी वा प्यारे पुत्र वा पुत्री के पास बैठा हुआ अब मैं जल्दी–जल्दी सन्ध्या को समाप्त करने में लगा हुआ हूँ, ताकि इससे निवृत्त होकर शीघ्र ही मैं भी उनके समीप केवल मन से ही नहीं वरन् तन से भी जा बैठूँ और खूब बातचीत करता हुआ आनन्द मनाऊँ।

ऐसी स्थिति में जब कभी भक्त–उपासक आत्मनिरीक्षण करता है और अपने को बाहर से उपासक और भीतर से घर, परिवार आदि के मोह में पर्याप्त बन्धा हुआ देखता है तो फिर उसे सन्देह होने लगता है और इसी कारण वह सहज ही कह उठता है कि–"किं मे हव्यमहृणानो जुषेत?" क्या वह मेरे हव्य को, भेंट को, आहुति को, आह्वान को, पुकार को सहज

स्वीकार करेगा, सहज सुनेगा, मेरी इस उपासना को सहज अङ्गीकार करेगा?

परन्तु एक बात है यदि हमारे हव्य द्रव्य घृत भात सामग्री आदि में कैसर–कस्तुरी, मिष्ट–पुष्ट–दाख, बादाम गरी, छुवारा, मखाने, किशमिश आदि एवं सुगन्धित रोगनिवारक आदि पदार्थ अधिक न भी हो, या वह घृत भात सामग्री आदि हव्य द्रव्य अत्यल्प–बहुत थोड़े और सामान्य से भी क्यों न हों, भगवान् के इस विशाल संसार के लिये भले ही वे अत्यल्प–बहुत न्यून भी क्यों न हों, तो भी स्वीकार करेगा, यदि उसके पीछे हृदयगत भावना दिव्य होगी तो। श्रीरामचन्द्रजी को ही देखो भीलनी के बेर जब उनके सम्मुख आए तो पहले तो वे कुछ सकुचाए, पर फिर जब उन्होंने उसकी हृदयगत भावना को देखा, उसके स्नेह को देखा, उसके उत्साह को देखा, तो झट उन्होंने उनको स्वीकार कर बड़े प्यार से उनका सेवन किया। श्रीकृष्णजी ने दुर्योधन के राजकीय भोज को यह कह कर ठुकरा दिया कि–"दुर्योधन! भोजन दो ही स्थितियों में किया जा सकता है, एक तो तब जब प्राणों पर आ जाए, अर्थात् जब भूख के मारे प्राण निकले जा रहे हों, तो फिर उस समय जहाँ कहीं से भी जीवन रक्षा के लिये जो कुछ भी मिले तो उससे अपनी भूख को शान्त कर लेना चाहिए, या फिर खिलाने वाले में बहुत स्नेह हो, श्रद्धा हो। सो हे दुर्योधन! भूख हमें नहीं है, स्नेह, श्रद्धा तुझ में नहीं है, तो भला फिर मैं तेरे भोजन को कैसे स्वीकार करूँ? पर वे ही श्रीकृष्ण महाराज थे जिन्होंने कितने प्यार से विदुरजी के यहाँ भोजन किया जो आने वाली पीढ़ियों के लिये एक प्रेरणा बन गई, एक मिसाल बन गई। आज भी बड़ी श्रद्धा से इस उक्ति के साथ लोग भगवान् श्रीकृष्णजी को याद करते हैं।" "दुर्योधन के मेवा त्यागे, साग विदुर घर खायो।" सुदामा जी अपनी पत्नी के कहने पर अपने विद्यार्थी काल के सखा श्रीकृष्णजी के पास आए और मित्र के लिये और कुछ विशेष नहीं मिला तो पत्नी ने मुट्ठी भर तण्डुल ही पोटली में बाँध दिये। पर सुदामा जी जब श्रीकृष्णजी के यहाँ पहुँचा और उसने उसके विशाल सुन्दर भवन को देखा तथा वहाँ के धन–वैभव, सुख–सौभाग्य को देखा तो उसे बड़ी लज्जा आई, बड़ी शर्म महसूस हुई और वह

सोचने लगा कि–''इस महान प्रसाद में इतने धन–वैभव में मेरे इन थोड़े से तण्डुलों का क्या महत्त्व है ? सो इनको मैं कैसे दूँ ?'' यह सोचकर उसने उस पोटली को बग़ल में दबा लिया। श्रीकृष्णजी यह सब कुछ भाँप गए और बोले कि मेरे प्यारे मित्र! हमारी भाभी ने हमारे लिये क्या भेजा है ? सुदामा जी सकुचाए और कुछ नहीं बोले। पर श्रीकृष्णजी ने उन मुट्ठी भर तण्डुलों की पोटली को प्यार से छीन लिया और उनमें उनके हृदय के दिव्य स्नेह को देखकर ऐसे प्यार से उन्हें सेवन किया कि उसे देखकर जहाँ सुदामा अवाक् रह गए, वहाँ श्रीकृष्ण–सुदामा की यह अद्भुत मित्रता इतिहास में स्वर्ण अक्षरों से लिखने लायक एक घटना बन गई....।

सो वह वरुण हमारे इस स्वल्प से हव्य को देखेगा, और सचमुच यदि उसके पीछे हमारे दिव्य दिल को देखेगा, हृदयगत उच्च भावना को देखेगा, श्रद्धा से ओत–प्रोत हमारे दिल में झाँक कर देखेगा तो फिर प्रभु भी उसको ऐसे स्वीकार करेगा जैसे कि श्रीकृष्ण ने सुदामा के तण्डुलों को स्वीकार किया था वा राजा दुर्योधन के राजकीय भोजन को ठुकरा कर विदुर के साग को स्वीकार किया था या भगवान् श्री राघवेन्द्र ने भिलनी के बेरों को प्रेम से स्वीकार दिया था। फिर वह सचमुच 'अहृणानः' ही नहीं, क्रोध रहित ही नहीं, बिना खिजे ही नहीं, वरन् बड़े प्रेमपूर्वक हमारे हव्य को प्रभु स्वीकार करेगा। तभी तो किसी ने कहा है कि तुम १० बोरी आटा न दो, एक बोरी न दो, एक मन न दो, एक किलो न दो, भले ही तुम एक मुट्ठी आटा दो, पर वह दो पवित्रता पूर्वक अर्जित किया हुआ, वह हो दिल से दिया हुआ, वह भी बड़ी श्रद्धा और प्रेम से दिया हुआ।

ऐसे ही तुम जब प्रभु को पुकारो, तो फिर तुम उसी को ही पुकारो, फिर उस समय किसी और को नहीं पुकारो, और न ही स्मरण करो। कहने को तो तुम पुकार रहे हो उस प्यारे प्रभु को कि–''हे प्रभो! हे ईश्वर! तू मेरी इस झोली में पड़े हुए बच्चे को (जिसके लिये सब डॉक्टरों ने जबाब दे दिया है) बचा लेना...।'' सारी रात तुम प्रभु को इस तरह से पुकारते रहे...। प्रातः बच्चे ने आँख खोल दी, तो फिर तुमने भगवान् को पुकारना छोड़ दिया और फिर पग–पग पर उसी बच्चे को पुकारने लगे।

भगवान् सोचता है....। कहने को तो यह मुझे पुकार रहा है पर वास्तव में तो यह इस बच्चे को पुकार रहा है या फिर केवल इसी के उद्देश्य से मुझे पुकार रहा है। काम पूरा हो गया तो अब हमें भूल कर बच्चे को ही पुकारने लग गया।

यह साधक जो मेरी स्तुति कर रहा है पर यह मेरी इसलिये स्तुति नहीं कर रहा कि मैं स्तुत्य हूँ, मुझ में दया, कृपा, न्याय आदि गुण हैं और इनको हृदय से इन गुणों में आस्था है और यह भी जी–जान से इन गुणों को अपनाना चाहता है। वरन् यह तो मुझे दयालु, कृपालु आदि कह कर मेरी चाटुकारी करके मुझसे धन–धान्य, स्त्री, पुत्र, पौत्र आदि–आदि चाहता है। सो स्तोता की इस स्तुति को देख कर वह भला कैसे उसकी स्तुति से रीझेगा... ? वह तो तब प्रसन्न होगा, जबकि वह साधक यह सब कुछ करता हुआ भी वह इन सांसारिक वस्तुओं की चाहना नहीं करता वरन् इन स्तुत्य गुणों के आधार पर वह अपने को भी स्तुत्य बनाना चाहता है। भगवान् उसकी इस भावना पर बहुत प्रसन्न होता है, और उसकी स्तुति के आधार पर उन गुणों से उसको भी स्तुत्य बना देता है।

ऐसे ही जब एक उपासक उसकी उपासना करता है तो बाहर से आसन में बैठकर सभी इन्द्रियों को अन्तर्मुखी कर बाहर की वस्तु–व्यक्ति एवं स्थानों से अपने को पृथक् कर स्त्री–पुत्र, बन्धु–बान्धवों एवं घर–परिवार–मित्र आदि से विमुख होकर केवल उस वरणीय वरुणदेव के समीप बैठ जाता है, तो फिर सचमुच वह वरुण इस उपासक की उपासना को सहज स्वीकार करता है, सहज सेवन करता है।

प्रभुवर! तू हम साधकों को ऐसी शक्ति–भक्ति दे कि हम भी सच्चे भक्त बनकर तुझ प्रभु में ही अपने हव्य होमते रहें, तुझ प्रभु के नाम पर ही इन दीन अनाथों में अपने हव्य द्रव्य होमते रहें [तुझ प्रभु में होमते हुए हम न उन्हें गाएँ, न जताएँ और न ही बताएँ] और तुझ प्रभु को ही हम पुकारते रहें, तुझ से ही प्रार्थना करते रहें, तेरी ही सच्चे दिल से उपासना करते रहें, ताकि हमारे हव्यों को तू सहज स्वीकार कर हमें कृतार्थ करे।

तृतीय रश्मि

कदा मृळीकं सुमना अभिख्यम्॥ –ऋ० ७.८६.२

कब भजूँगा शुद्ध मन से मैं तुझे।

(सुमनाः कदा मृळीकम् अभिख्यम्) सुन्दर मन वाला होकर कब सुख देने वाले वरणीय प्रभु का मैं दर्शन करूँगा? यद्वा सुन्दर–स्वच्छ–पवित्र–निर्मल मन वाला बन कब मैं वरणीय वरुण देव को भजूँगा।

कब वे सौभाग्यशाली दिन आयेगा? कब वे सौभाग्यशालिनी घड़ियाँ आयेंगी जब कि मैं शुद्ध मन वाला होकर तुझ वरणीय वरुण देव का बखान करूँगा, गुणगान करूँगा, भजन करूँगा, और यह सब बड़ी श्रद्धा–भक्ति से करता हुआ मैं कब तेरा साक्षात्कार करूँगा?

कदाचित् शब्द का यहाँ अपना ही महत्त्व है। भक्तप्रवर भर्तृहरि जी ने लिखा है कि–'न जाने कब वे सौभाग्यशालिनी घड़ियाँ आयेंगी जबकि मैं गंगा के तीर पर पद्मासन लगाकर तेरी आराधना में ऐसा डूबा रहूँगा कि जठर हिरण, बूढ़े हिरण अपने शरीर की खुजलाहट दूर करने के लिये अपनी पीठ हमारे शरीर से रगड़ रहे होंगे, तो उसका भी हमें पता नहीं लग रहा होगा?' यहाँ भी भक्त यह कह रहा है कि–'न जाने कब, न जाने कौन से दिन, न जाने कौन–सी सौभाग्यशालिनी घड़ियाँ होंगी जबकि मैं शुद्ध मन होकर तेरा स्तवन करूँगा, तेरा गुणगान करूँगा? तेरा भजन करता हुआ तेरा साक्षात् दर्शन करूँगा?'

उस वरणीय वरुण देव के भजन करने के लिये, उसका दर्शन पाने लिये इस मन को सु–मन बनाना आवश्यक है, इस मन को अच्छा मन बनाना जरूरी है। क्योंकि जब तक यह मन 'दुर्मन–कुमन' अर्थात् बुरा वा कुत्सित बना रहेगा, तब तक इससे उस वरणीय वरुण देव का न तो यह स्तवन–भजन ही कर सकेगा, और न ही उसका साक्षात्कार–दर्शन ही कर सकेगा। इसलिये इस दुर्मन को, इस दुष्ट मन को, इस बुरे मन को, इस कुमन को, इस कुत्सित मन को सुमन–अच्छा मन बनाना आवश्यक है।

मनुष्य का यह दुर्मन–यह दुःमन जब बुरा बना रहता है तो फिर यह इन चक्षु, श्रोत्र, घ्राण आदि ज्ञानेन्द्रियों से बुरा ही बुरा देखता, बुरा ही बुरा सुनता, बुरा ही बुरा सूँघता, बुरा ही बुरा चखता, स्वाद लेता, बुरा ही बुरा स्पर्श करता एवं बुरा ही बुरा सोचता रहेगा। इन नेत्र, श्रोत्र, घ्राण आदि ज्ञानेन्द्रियों से बुरा ही बुरा देखने–सुनने–सूँघने आदि से फिर यह अपनी कर्मेन्द्रियों से भी बुरा ही बुरा बोलता और बुरा ही बुरा करता रहता है। इस तरह यह दुर्मन, यह दुष्टमन इस जीव को, इस मनुष्य को बुराई के, पतन के उस गर्त में ला पटकता है जहाँ से फिर इसके लिये उभरना फिर उठकर सम्भल पाना सरल नहीं होता। इस प्रकार यही दुर्मन–दुष्टमन कुत्सित मनवाला व्यक्ति ही फिर धीरे–धीरे दुर्जन–कुत्सित जन–निन्दित जन बुरा आदमी कहलाने लगता है। ऐसे दुर्जन के सम्बन्ध में शास्त्र में कहा गया है–

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययालंकृतोऽपि सन्।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयंकरः॥

दुर्जन से सदा दूर रहना चाहिये, भले ही वह विद्या–ज्ञान–विज्ञान से अलंकृत भी क्यों न हो! मणि से भूषित–अलंकृत सर्प क्या भयंकर नहीं होता। इस प्रकार दुर्जन से सदा अपने को दूर ही रखना चाहिये।

यह दुर्मन, यह दुर्जन, यह नीच पुरुष तो ऐसा होता है कि दूसरों के सरसों के दाने के समान छिद्र, दूसरों की ज़रा–सी भी त्रुटि–न्यूनता–कमी इसको अच्छी तरह दिखाई देती है पर अपने जीवन का बिल्व–बेल के समान छिद्र, अर्थात् बड़ी से बड़ी त्रुटि–न्यूनता–कमी भी इसको नहीं दिखाई पड़ती।

मनुष्य को चाहिये कि ऐसे दुर्मन–दुर्जन से न तो कभी मित्रता करे, न ही कभी प्रीति–प्रेम करे, क्योंकि वह तो काले कोयले के समान होता है जो जलने पर अंगारे के रूप में हो, तो वह जलाता है और ठण्डे रूप में हो तो हस्त–वस्त्र आदि काले करता है।

ऐसे दुर्मन–दुर्जन भले ही कितना भी प्रिय, कितना भी मधुर क्यों न बोलें, तो भी वह विश्वास का पात्र नहीं होता। क्योंकि उसकी जिह्वा पर तो मधु–शहद के समान मिठास होता

है, पर हृदय में उसके विष–ज़हर भरा रहता है।

पिछले दिनों एक सज्जन ने अपना माल बेचकर ४२ सहस्र रुपये प्राप्त किये। उनमें से १२ हजार एक जेब में और ३० हजार दूसरी जेब में या अन्टी में रख लिये। किराए आदि के लिये थोड़े बहुत रुपये बाहरी जेब में थे ही। रेलवे स्टेशन पर एक नौजवान आया और उसने उस सज्जन से पूछा–''लाला जी! आपने कहाँ जाना है?'' वह बोला–''बेटा! मैंने अमुक जगह जाना है।'' लाला जी बोले–''बेटा! आप क्या करते हो?'' वह बोला–''लाला जी! वैसे तो मैं पढ़ता हूँ। पर छुट्टियाँ थीं दो–चार, तो मैंने सोचा, चलो मामा जी के यहाँ हो आऊँ।'' लालाजी बोले–''चलो बेटा, दोनों का साथ हो गया। एक से दो भले।''

यात्रा में मधुर–मधुर बाते होती रही। शाम हो गई। ऊपर की सीट खाली हो गई। लाला जी अधेड़ तो थे ही। अतः उसने उन्हें ऊपर लिटा दिया। स्वयं वह भी उन्हीं के पैरों की ओर बैठ गया। थोड़ी देर बाद स्टेशन आ गया। उसने लाला जी से पूछा–''आप कुछ चाय आदि लेंगे?'' वे बोले–''बेटा, दो चाय ले–लो, एक तुम पी–लो और एक मुझे दे–दो।'' बड़े प्यार से वह दो चाय ले आया। एक लाला जी को दे–दी और दूसरी स्वयं पी–ली। थोड़ी ही देर में लाला जी कुछ अचेत से हो गए और उस अन्धेरे में उसने उसके वे ३०+१२=४२ हज़ार रुपये निकाल लिये और अगले स्टेशन पर वह उतरकर गायब हो गया। फिर वह पर्याप्त अचेत–सा हो गया। आगे चलकर कोई ऊपर चढ़ कर बैठा तो उसे कुछ विचित्र–सा लगा। तब उसने नीचे वालों को कहा। फिर पुलिस को सूचना दी गई। पुलिस उसे गाड़ी से उतार कर चिकित्सालय ले गई। वहाँ ले जाकर औषधि आदि देने पर जब उसे होश आया तो वह बोला कि–'मैं कहाँ हूँ?' किसी ने कहा–'आप हस्पताल में हैं।' तब वह बोला–'मैं तो रेल में था और घर जा रहा था, यहाँ कैसे पहुँच गया?' इसका उत्तर अभी अगले व्यक्तियों ने दिया ही नहीं था कि उसने देखा तो उसके वे सहस्रों रुपये नहीं थे। दोनों जेब खाली थे। तब वह अवाक् रह गया। तो इस प्रकार दुर्मन–दुष्टमन–दुर्जन व्यक्ति कितना भी प्रियवादी क्यों न हो, कितना भी मीठा बोलने वाला क्यों न हो, उस पर विश्वास नहीं करना चाहिये,

और न ही उसके हाथ का लाया हुआ कुछ द्रव्य खाना चाहिये। फिर यात्रा में तो इस विषय में पर्याप्त सतर्क–सजग–सावधान रहना ही चाहिये। क्योंकि ज़रा भूल–चूक में कुछ का कुछ हो जाता है।

सो यह दुर्मन मनुष्य, यह दुष्ट मन वाला मानव, यह कुत्सित–निकृष्ट–अति लोभ–लालच आदि से परिपूर्ण मन वाला दुर्जन तो इस संसार के सामान्य मनुष्य को भी नहीं भाता, जब उसकी वास्तविकता का उसको पता लग जाता है, तो फिर भला उस सर्वान्तर्यामी वरणीय वरुण देव को श्रद्धा, भक्ति और उपासना के योग्य उस प्राणप्रिय प्यारे प्रभु को तो वह कैसे भायेगा? यह सामान्य मनुष्य तो भले ही उसको भीतर–बाहर से अर्थात् सब तरह से जान पाए या न जान पाए, पर वह तो सबको सब तरह से जानता ही है, सब के सब अच्छे–बुरे भावों और कर्मों पर अपनी दृष्टि रखता ही है, सब के सब भले–बुरे विचारों और आचारों पर अपनी प्रतिक्रिया अभिव्यक्त करता ही है, हर एक को सजग–सावधान करता ही है, सन्मार्ग पर चलने के लिये सत्प्रेरणा सब को देता ही है, फिर भी वह समझे या न समझे, सुने या न सुने, माने या न माने, तो प्रभु क्या करे? 'पर वह प्रभु फिर क्या करे', वालों में से नहीं है। वह पहिले तो समय पर सबको खबर देता है, खबर देकर सब को यह खबरदार करता है, फिर भी यदि अगला व्यक्ति उसको ध्यान से सुनता नहीं, उसकी अवहेलना करता है, तो फिर वह केवल उसको खबर देता ही नहीं है, बल्कि उसकी फिर वह अच्छी तरह खबर लेता भी है। और खबर भी ऐसी लेता है कि अगले को फिर कहीं जान बचाने की राह ही नहीं मिलती।

सो भक्त यह समझता है कि उस प्रभु के दर्शन पाने के लिये, उसको अपने अनुभव में लाने के लिये केवल अपने पदार्थों को ही शुद्ध साफ़–सुथरा रखना पर्याप्त नहीं है, केवल अपने वस्त्रों को एवं अपने तन–बदन को नहला–धुला कर साफ़–स्वच्छ रखना ही पर्याप्त नहीं है, वरन् उसके लिये तो अपने तन–बदन आदि के साथ–साथ अपने मन–बुद्धि आदि को भी शुद्ध–निर्मल–पवित्र बनाना आवश्यक है। प्रभु का प्यार पाने के लिये केवल वर्णों, शब्दों वा बाह्य हाव–भावों को ही

मधुर प्रिय बनाना काफी नहीं है, अपितु उसके साथ–साथ मन को भी पावन करना, दिव्य भावों से भरना अनिवार्य है। सचमुच तन की शुद्धि के साथ–साथ वा बाह्य हव्य पदार्थों एवं वाणी आदि की शुद्धि के साथ–साथ यदि मन भी सु–मन, स्वच्छ मन, पवित्र मन बन जाए तो फिर बहुत जल्दी ही वह व्यक्ति सुमन के समान खिल जायेगा और अपने चहुँ ओर जहाँ अपनी सुरभि से सब वातावरण को सुरभित कर देगा, वहाँ उसे फिर जहाँ अपना भान हो जायेगा, वहाँ आत्मा में विद्यमान परम पिता परमात्मा का भी उसे साक्षात्कार हो जायेगा। ऋषिवर दयानन्द के शब्दों में–''परमेश्वर तो सर्वदा सर्वत्र सब को प्राप्त है, किन्तु संदोष अन्तःकरण में उसकी प्रतीति नहीं होती। अतः मनुष्य को चाहिये कि जहाँ वह अपने को बाहर से साफ–सुथरा रखे वहाँ वह अपने को भीतर से भी पवित्र बनाए रखे, अन्दर से भी अपने को निर्मल मन वाला, निर्दोष अन्तःकरण वाला बनाकर उस सुखस्वरूप–आनन्दस्वरूप प्रभु का साक्षात्कार करे।''

इस सूक्त के अनुरूप यदि भक्त में सचमुच ऐसी तड़प है–**''कदा मृडीकं सुमना अभिख्यम्''**–न जाने कब वह सौभाग्यशाली समय आयेगा, जब सुन्दर मन वाला, दिव्य पावन मन वाला, निर्दोष अन्तःकरण वाला होकर सुखस्वरूप–आनन्दस्वरूप प्रभु को मैं भजूँगा और उसका दर्शन करूँगा ? तो फिर यह तड़फन ही, यह टीस ही उसको उठायेगी, उसको दुर्गुण–दुर्व्यसनों से और उनके आधार पर होने वाले दुःखों से, कष्ट–क्लेशों वा दुर्गुण–दुर्व्यसनों के कीचड़ में धंसे पड़े हुए लोगों और उनके कुसंग से होने वाले पाप–तापों को दूर कर देगी। और यही तड़फन, यह दिदृक्षा, प्रभु–दर्शन की पिपासा उसको सुमन–सुन्दर मन वाला, उत्तम मनन–चिन्तन वाला, अद्वितीय संकल्पों वाला दिव्य आहार–व्यवहारों वाला बना देगी, उस दिव्य देव के दर्शन का अधिकारी बना देगी, उस वरणीय वरुण देव का कृपा–पात्र बना देगी। सो यह दिदृक्षा, प्रभु–दर्शन की प्यास–तड़फन, यह परम जिज्ञासा, उस प्रभु को पाने की दिव्य भूख ही उसको उसका साक्षात्कार करा कर उसको निहाल करेगी।

चतुर्थ रश्मिः

पृच्छे तदेनो वरुणो दिदृक्षूपो एमि चिकितुषो विपृच्छम्।

–ऋ० ७.८६.३

अन्वयाः–वरुण! ददिृक्षुः (अहं) तद् एनः पृच्छे, उ चिकितुषे विपृच्छम् उप्एमि।

हे वरणीय वरुण देव! दर्शन का इच्छुक मैं आपसे उस पाप को पूछता हूँ जिसके कारण मैं तुम्हारे दर्शन नहीं कर पा रहा हूँ। और यही बात मैं ज्ञानी–विवेकी–अनुभवी विद्वान् से पूछने के लिए उसके पास भी जाता हूँ।

पिछली रश्मि में जब उपासक को यह ज्ञात हुआ कि हव्य सुन्दर होने पर यदि हव्य के दाता का मन अच्छा नहीं होता, उसकी भावना पवित्र नहीं होती, उसकी वृत्ति पवित्र नहीं होती, उसके संकल्प दिव्य नहीं होते, तो कितने भी सुन्दर, उत्तम अच्छे हव्य द्रव्य क्यों न हों, तब भी उसको अगला स्वीकार नहीं करता, उसकी ओर अगला मुख नहीं करता, और यह सब समझ कर उपासक ने उस आनन्दस्वरूप प्रभु का दर्शन पाने के लिये अपने मन को सु–मन बनाने का प्रयास किया। मन यदि उसका सु–मन बन भी जाये, उसका यदि सोचना–विचारना ठीक भी हो जाए, उसके संकल्प सब अच्छे बन भी जाएँ, तब भी उसको प्रभु के दर्शन नहीं होंगे। क्योंकि जैसे एक व्यक्ति ने व्याकरण–निरुक्त आदि पढ़ भी लिया हो और अच्छी तरह उसकी बारीकियों को भी उसने समझ लिया हो, एवं वह अब वेद के पढ़ने–पढ़ाने तथा उसको समझने–समझाने में भी वह योग्य भी हो गया हो, तो इस प्रकार भले ही उसके हाथों में अब वेदरूपी अलमारी को खोलने की तालियाँ आ गई हों, पर फिर भी वेदरूपी अल्मारी का ताला तो तभी खुलेगा न, जब कि वह उन तालियों से उसका ताला खोलना चाहेगा। यह ठीक है कि लोग उसको व्याकरण और निरुक्तादि का, पण्डित विद्वान्, आचार्य आदि कह कर उसको मान–सम्मान देंगे। उसकी आव–भगत भी करेंगे, पर जिस लाभ के लिये उन्होंने यह सब किया था वह तो नहीं हो पायेगा।

स्वामी दर्शनानन्द जी एक बार एक खेत की डोल पर बैठकर गाजर–मूली खा रहे थे तो एक बहुत बड़ा रईस घोड़े पर सवार हुआ–हुआ जा रहा था। यों तो वह अय्याश कुकर्मों के कीचड़ में धंसा हुआ था, फिर भी न जाने कैसे उसके मन में यह भाव जगा कि मैं इस साधु को भोजनार्थ कहूँ। यह सोचा और कहा–''ओ बाबाजी! ओ स्वामी जी! क्या गाजर–मूली खा रहे हो, चलो मेरे घर, मैं आपको खूब बढ़िया भोजन कराऊँगा।'' स्वामी जी ने कहा कि–''इस मूली–गाजर में जो मज़ा है, वह तेरे मूल्यवान भोजन में कहाँ?'' नहीं महाराज! मेरा भोजन बहुत ही बढ़िया होगा, स्वादिष्ट होगा उस व्यक्ति ने कहा। इस पर वह साधु बोला–अरे भोले! भोजन भले ही सुन्दर हो, पर तुम्हारा मन–बुद्धि जीवन तो सुन्दर नहीं है, तुम्हारे भाव–भावना तो आदिव्य है। हम उस भोजन के मुकाबले में इस गाजर–मूली को खाना बहुत अच्छा समझते हैं, इन शब्दों ने उस व्यक्ति को हिला कर रख दिया। न जाने कितने व्यक्ति मेरे साथ वा मेरे पास खाने–पीने में अपना अहोभाग्य समझते हैं, और एक तरफ यह है जो मुझे और मेरे भोजन को देखने लायक भी नहीं समझता। यह तो मेरे दिव्य आस्वाद्य भोजन को भी अदिव्य और अस्वादिष्ट तथा हेय मानता है। क्योंकि मेरी भावना अच्छी नहीं, मेरा मन अच्छा नहीं, मेरा दिल दिव्य नहीं। अदिव्य दिल दिव्य भोजन को भी अदिव्य और हेय बना देता है। उसने सोचा–''मेरा मन अच्छा नहीं, मेरी भावना भद्र नहीं, मेरा जीवन अच्छा नहीं, मेरा चरित्र अच्छा नहीं, सो उस दिन न जाने क्यों उसके दिल में यह भावना स्थिर हो गई कि मैंने ऐसे पवित्र महापुरुष को भोजन अवश्य खिलाना है।'' यह सोचकर उसने घोड़े से उतरकर कहा–''स्वामी जी! महाराज जी! कौन–सी ऐसी भावना है, कौन–सा ऐसा पाप है जिसके कारण अनुनय–विनय करने पर भी आप मेरे यहाँ भोजन नहीं करना चाहते, और उस भोजन की अपेक्षा इस गाजर–मूली को बहुत अच्छा समझते हैं।''

स्वामी जी महाराज ने कहा–''मुझे भोजन कराना है तो मांस–शराब छोड़ दे, इन वाराङ्गनाओं, इन वेश्याओं को छोड़ दे और उस देवी को अपना, जिसका हाथ तूने विवाह की वेदी

पर पकड़ा था और प्रतिज्ञा की थी कि आज से तू मेरी धर्मपत्नी और मैं तेरा पति रहूँगा। तुझ को छोड़कर मैं अन्य सब को अपनी माँ–बहिन–बेटी के समान समझकर व्यवहार करूँगा, इत्यादि...।'' जा पहले अपने घर को साफ–सुथरा कर, और स्नेह–सम्मान से उस देवी को अपना, और फिर श्रद्धा–प्रेम से भोजन बनवा। हम तब भोजन करेंगे। उसने ऐसा ही किया और तब बड़े स्नेह–सम्मान से पूज्य स्वामी जी को वह वहाँ ले गया। देवी ने भोजन बनाया, और उसने बड़ी श्रद्धा से परोसा। स्वामीजी ने बड़े प्रेम से भोजन कर उनको आशीर्वाद दिया। और भविष्य में उस परिवार का बड़ा कल्याण हुआ और वह जगह उन्होंने गुरुकुल के लिये पूज्य स्वामी दर्शनानन्द जी को दान दे दी...।

सो यह साधक भी प्रभु से पूछता है कि मैं आपसे वह पाप पूछता हूँ जिसके कारण दिदृक्षु–दर्शन की तड़प रखता हुआ भी मैं आप के दर्शन नहीं कर पा रहा हूँ। इतना होने पर भी जब मुझे भीतर से कुछ स्पष्ट उत्तर–सा नहीं सुनाई देता, तो मैं ज्ञानी महापुरुषों के पास भी यह पूछने के लिये चला जाता हूँ और पूछता हूँ कि–''क्या कारण है कि मेरे हृदय से चाहने पर भी वह प्रभु मुझे दर्शन नहीं देता?'' तो वे कवि–ज्ञानी–योगी जन सब के सब यही कहते हैं कि–''**अयं ह तुभ्यं वरुणो ह्वणीते।**'' यह वरणीय वरुण देव तुम पर रुष्ट है, तुम पर क्रुद्ध है। क्यों है? यह हम नहीं बता सकते। तुम जानो और वह प्रभु जाने?

साधक को इतना तो बोध हो ही गया कि–''वह वरणीय वरुण देव उस पर रुष्ट है, क्रुद्ध है, वह उस पर नाराज़ है।'' अतः उसने सोचा कि–''मेरा कर्त्तव्य है कि मैं फिर उसी के द्वार पर जाऊँ और यह जानने का हार्दिक प्रयास करूँ कि क्यों प्रभुवर मुझ पर रुष्ट है। यह सोचकर मैं गया और मैंने हृदय की टीस के साथ निवेदन किया, दिल से उस वरणीय वरुण देव से दरयाफ़्त किया, मालूम किया कि आखिर कौन–सा ऐसा महान् पाप–अपराध मुझ से हो गया है जो आप मुझे दर्शन नहीं देते, आप मुझ पर कृपा नहीं करते, आप मुझको अपनी दिव्य झाँकी देकर कृतार्थ नहीं करते–निहाल नहीं करते?'' यह जिज्ञासा भक्त अगली पञ्च रश्मि में भगवान् से करता है।

पञ्चम रश्मि

किमाग॑ आस वरुण॒ ज्येष्ठं॑ यत्स्तो॒तार॑ं जिघां॑ससि॒ सखा॑यम्।

–ऋ० ७.८६.४

हे वरुण! वरणीय वरुण देव! **(किं ज्येष्ठम् आगः आस)** कौन–सा बड़ा भारी वह आगः–अपराध मुझ से हो गया है **(यत् स्तोतारं सखायं जिघांससि)** जो कि तुम मुझ अपने सच्चे स्तोता और सखा की अवहेलना कर रहे हो। अर्थात् मेरे हृदय से चाहने पर भी मुझे दर्शन नहीं दे रहे हो।

इस मन्त्रांश में जहाँ उपासक ने अपने को प्रभु का सच्चा स्तोता और सच्चा सखा बताया, इसी से ही मानो वरुण ने उसको भीतर से पूछ लिया कि क्या सचमुच तू मेरा स्तोता है? यदि तू मेरा सचमुच स्तोता है मेरे गुणों का स्तवन–कीर्तन करने वाला है तो फिर स्तोता में वे सब गुण किसी न किसी रूप में शनैः शनैः आने चाहियें जिन गुणों का कि वह स्तवन–शंसन करता है।

स्तोता के भी दो रूप होते हैं, एक भाट का और दूसरा स्तोता का। भाट वह (स्तोता) होता है जो राजा के गुणों को स्तवन–गुणगान तो करता है पर इसलिये नहीं कि उसको वे गुण प्यारे लगते हैं या उन गुणों से वह प्रभावित होकर वह उन गुणों के अनुरूप आचरण करना चाहता है, वरन् वह तो इसलिये राजा के उन गुणों का गान करता है कि किसी तरह उस भाट के गुणगान से राजा प्रसन्न होकर उसको बड़ा भारी इनाम दे–दे, बड़ी भारी ज़मीन–जायदाद दे–दे, वा कुछ विशेष पद–प्रतिष्ठा दे–दे। वैसे उसको उसके उन गुणों से कोई सरोकार नहीं। पर जो सच्चा स्तोता होता है, सच्चा भक्त होता है, सच्चा साधक होता है, तो वह जब उस प्राणप्रिय प्रभु का गुणगान करता है, कीर्तन करता है तो उसके दिल में न तो उस राजा के धन–वैभव की लालसा होती है, न ही उसकी ज़मीन–जायदाद की कामना होती है, और न ही किसी पद–प्रतिष्ठा की भावना होती है, वरन् वह तो राजा के जिन न्याय, सत्य, तेज वा उत्तम गुण–कर्म–स्वभावों की प्रशंसा करता है, उन गुणों का जो दिल

से गुणानुवाद करता है, वह इसलिये करता है कि वह उन गुणों को दिल से पसन्द करता है। वह हृदय से चाहता है कि वे सब उत्तम गुण उसके जीवन में भी आ जाएँ। अर्थात् न्याय, सत्य, दया, स्नेह, कृपा आदि उन सब उत्तम गुणों से उसका जीवन भी अभिव्याप्त हो जाए। सो सच्चा स्तोता तो वह होता है जो अपने जीवन में उन स्तुत्य गुणों को लाकर अपने आराध्य देव सम बनना चाहता है। जिस दिन उपासक में, भक्त में ये गुण आ जायेंगे, तो प्रभु उस पर सहज ही प्रसन्न हो जायेगा। और उसको सब तरह से कृतार्थ कर देगा।

इसी तरह प्रभु उसे कहता है कि तू मुझे सखा कहता है। पर सखा केवल वह नहीं होता जो उम्र–आयु में उसके समान हो वरन् सच्चा सखा तो वही होता है जिसके अपने सखा–मित्र के साथ गुण–कर्म–स्वभाव मिलते हों। अब तुम को झूठ प्रिय है, मुझे सच्च प्रिय है; तुमको अन्धकार–अविद्या–अज्ञान प्रिय है, मुझे प्रकाश–विद्या–विज्ञान प्रिय है; तुम को स्वार्थ अन्याय प्रिय है, मुझे निःस्वार्थता, न्यायप्रिय है, तो फिर तुम ही बताओ कि हम दोनों का सखापन कैसे बन सकता है? तू कहने को तो मुझे चाहता है पर मेरी रुचियों को नहीं चाहता। जिस दिन तू अपने गुण–कर्म–स्वभावों को मेरे जैसा बना लेगा, उस दिन से हममें तब सहज ही मित्रता हो जायेगी। उस दिन से फिर तू मेरे सामने होगा और मैं तेरे सामने होऊँगा। अब यदि तू मुझे चाहता है तो तू मेरे जैसा बन, मेरे जैसा अपने को सच्चा–सुच्चा, सरल–निश्छल, पवित्र–सौम्य, न्याय़कारी और सर्व हितकारी–परोपकारी बना।

चष्ठ रश्मि

प्र तन्मे वोचो दूळभ स्वधावोऽवं त्वानेना नमसा तुर इयाम्॥

–ऋ० ७.८६.४

(दूडभ!) हे दुर्लभ दर्शनीय या किसी से न दबने वाले! (स्वधावः!) हे स्वयं सारे जगत् को धारण करने वाले प्रभुवर! (मे तत् प्रवोच) तू मुझे वह पाप–अपराध बता, दिल खोल कर बता, और फिर तू मुझे वह प्रकार भी बता कि जिससे मैं (अनेनाः त्वा तुर इयाम्) सर्वथा निष्पाप होकर तुम्हें शीघ्र ही प्राप्त कर सकूँ।

इस प्रकार साधक को चाहिये कि वह स्वयं ही अपने भीतर प्रवेश करता हुआ उस वरणीय वरुण देव से पूछे–जाने–समझे कि वह कौन–सा पाप है, अपराध है, दोष है कि जिसके कारण वह उसके अत्यन्त समीप होता हुआ भी उससे दूर है। यों पूछता–पूछता साधना से जानता–जानता हुआ वह शनैः–शनैः अपने स्वार्थों से, लोभ–लालचों से, काम–क्रोध, मोह–अहंकारों से ऊपर उठता जायेगा, धीरे–धीरे धुलता जायेगा और अपने प्रियतम प्रभु के सन्निकट होता जायेगा।

सचमुच जब हम केवल अपने भीतर प्रवेश कर–कर के उस प्रभु से दर्याफ़्त करते रहेंगे, मालूम करते रहेंगे, तो वह हमारे दोष भी बताता रहेगा और हमारे जीवन को साफ–सुथरा भी करता रहेगा। फिर धीरे–धीरे हम वही बन जायेंगे जो कि वह हमें बनाना चाहता है। जैसे एक परिवार में गृहस्थ अपने परिवार में सबको सन्ध्यादि करवाकर कहते हैं कि–''अब सब बैठ जाओ, सीधे बैठ जाओ। गर्दन सीधी, रीड की हड्डी सीधी रखो। सन्ध्या से पूर्व पहले प्रायश्चित करो।'' ''वह कैसे करें?'' सब ने पूछा तब वे बोले–

तुम सब बैठकर पूछो उस वरणीय वरुण देव से, पूछो उस प्रियतम प्रभु से कि–''प्रभुवर! तू बता कि आज प्रातः से हमने कौन–सी त्रुटि की है? कौन–सा पाप–अपराध किया है?'' भीतर से जो भी ध्वनि आए, बिना ननु–नच किये हुए तुम

उसको मानते चले जाओ और उस एक–एक त्रुटि पर एक–एक बार गुरु मन्त्र, गायत्री मन्त्र बोल–बोल कर प्रायश्चित करते हुए उस प्यारे प्रभु से प्रार्थना करते जाओ कि–''हे प्रभुवर! तुम हमें ऐसी शक्ति दो कि पुनः हम से यह त्रुटि कभी न हो पाए।'' इस तरह **''प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः''**–प्रतिदिन अपने आपको भली–भाँति देखते रहो, प्रभु की साक्षी में अपने दोषों को निहारते रहो, उन दोषों–त्रुटियों एवं भूलों पर पश्चात्ताप करते रहो, तथा भविष्य में जी–जान से उनसे बचते रहो, तो फिर एक दिन तुम धुल–धुल कर साफ–सुथरे हो जाओगे और निश्चय ही उस प्रभु के प्यार और आशीर्वाद के पात्र बन कर उसका दर्शन पा जाओगे।

इस प्रकार परिवार में यह सब होता रहा। एक दिन माँ अपने बच्चों के साथ अपने अड़ोस–पड़ोस में एक वृद्ध माँ के समीप गई तो उनको उस देवी ने कहा कि–''आज मज़ा आ गया। हमने सन्ध्या की, हमने भजन गाया, हमने प्रायश्चित किया। हमने ध्यान किया...।'' माँ के यह सब कहने पर वह दूसरी में पढ़ने वाला बालक भी बोला–''दादी माँ! हमने भी सन्ध्या की, भजन गाया, प्रायश्चित किया, ध्यान किया।'' वह वृद्धा माँ बोली–''बेटा! तू बता कि तूने कैसे प्रायश्चित किया और कैसे ध्यान किया?'' बच्चा बोला–''दादी माँ मैं नहीं बताऊँगा।''

दादी माँ बोली–''बेटा बता दे, मैं तुझ को बहुत बढ़िया चीज़ दूँगी।'' बच्चा बोला–''नहीं दादी माँ, मैं नहीं बताऊँगा।'' वह वृद्धा फिर बोली–''बेटा! तू बता दे, मैं तुझ को यह दूँगी, वह दूँगी....।'' बच्चा बोला–''अच्छा दादी माँ, फिर मैं तुम को एक बात बताऊँगा।'' दादी माँ–''अच्छा बेटा, तू एक ही बता दे।'' बच्चा बोला–दादी माँ! मैंने भगवान् से पूछा–''भगवान् तू बता, आज मैंने क्या ग़लती की?'' दादी माँ! मैंने आज स्कूल में मैडम से कहा–मैंने लघुशंका जाना है, तो वह बोली–''नहीं, बैठो, पढ़ो, अभी नहीं जाना।'' फिर पूछा तो भी नहीं जाने दिया। घण्टी बज गई। दूसरी मैडम आई तो मैंने सोचा कि बहुत ज़ोर का पेशाब आया है, अतः उधर से वह अन्दर आई तो मैं लघुशंका होकर पीछे से आकर चुपचाप सीट पर बैठ गया। सो

सर्व प्रथम साधना में सुना कि–''तू बिना पूछे लघुशंका गया था, तुम्हें मैडम से पूछ के ही जाना चाहिये था। और अगर वह भी न जाने देती तो तुम बताते कि लघुशंका ज़ोर की आ रही है, तो वह अवश्य तुम्हें जाने देती।'' सो झट मैंने प्रायश्चित किया एक गायत्री मन्त्र से, और प्रभु से प्रार्थना की कि कल ऐसी शक्ति दे कि फिर मैं ऐसा न करूँ।

दादी माँ! फिर जब दूसरी मैंडम पढ़ा कर जाने लगी तो उसने विद्यार्थियों से कहा कि–''मुझे अपनी–अपनी होमवर्क की कापियाँ दे दो।'' वह जल्दी में जा रही थी। मेरी कापी रह न जाये यह सोचकर मैं अपने डेस्क के नीचे से निकल कर पहली पंक्ति में आ गया और मैंने उन्हें अपनी कापी दे दी। वह तो लेकर चली गई। पर ध्यान से पूर्व भीतर से मुझे यह सुनने को मिला कि तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए था। भले ही कापी अगले दिन के लिये रह जाती। सो उसका प्रायश्चित किया। दादी माँ! यह तो मैं दो बता गया, और नहीं बताऊँगा। उसने उसको खूब प्यार किया और पुरस्कार भी दिया। पर जब वह घर वापिस आता है तो रास्ते में अपनी माँ को बच्चा कहता है– माँ जी! तीसरी बात तो मुझे और भगवान् ने बतायी–बेटा! तू बहुत दिनों में आया है, अतः ज़रूरी थोड़ी है जो आज की ही ग़लती बतानी है, तुम्हें याद है तुमने अपनी माँ के पर्स में से एक २० का नोट निकाला था। माँ जी, वह ऐसी बात थी कि मैं इन्कार न कर सका। माँ जी! जब आप देहली में सर्विस करती थीं, मैं तब बहुत छोटा था मुझे तब नोटों की जानकारी भी नहीं थी। तब इतना ही पता था कि इन हरे, पीले, नीले कागज़ों से खाने–पीने की चीज़ें मिलती हैं। सो मैंने तुम्हारे पर्स में से यह लम्बा–लम्बा बीस का नोट निकाला था...। झट मैंने स्वीकार कर प्रायश्चित किया गायत्री मन्त्र से, जैसा कि पिता जी ने बताया था, और प्रभु से प्रार्थना भी की कि–''प्रभुवर! आगे ऐसी सद्बुद्धि दो कि मुझ से पुनः कभी ऐसा न ही हो।'' सो इस प्रकार जिस चोरी को घर में न मोसा जी, न मोसी जी, न भाभियाँ और न भाई पकड़ सके और न ही आज तक उसकी माँ को उसका पता लग सका, उस चोरी को प्रभु ने कैसे पकड़ा और उस बच्चे से कैसे मनवाया, एवं सात्त्विक बालक ने भी

कैसे सहज उसे स्वीकार कर उस पर प्रायश्चित किया और भविष्य में ऐसा न हो, उसके लिये प्रभु से प्रार्थना भी की।

सो इस प्रकार यदि सच्चे सरल हृदय से स्तोता–भक्त–साधक प्रभु शरण में प्रतिदिन बैठ–बैठकर उस सर्वव्यापक सर्वज्ञ अन्तर्यामी प्रभु से अपने दोषों, पापों, अपराधों को पूछता रहेगा और पूछ–पूछ कर जानता रहेगा और जान–जान कर उन पर पश्चात्ताप करता रहेगा तथा पश्चात्ताप कर कर के भविष्य में उन पापों से उनके आधार पर होने वाले तापों से बचने के लिये प्रार्थना और संकल्प करता रहेगा, तो यों एक दिन वह सर्वथा 'अनेनाः'–निष्पाप, निष्कलंक, स्वच्छ–निर्मल होकर कृतज्ञतावश दिव्य भावों में भरा हुआ आगे बढ़ता रहेगा, तो निःसन्देह एक दिन उसे सब प्रकार से सफलता मिल जायेगी...। वह फिर एक दिन सर्वथा निष्पाप बनकर मन–वचन–कर्म से उन पापों से सर्वथा निष्पाप बनाने वाले, और निष्पाप बनने पर सब प्रकार से स्नेह–सम्मान–यश प्रदान करने वाले तथा इन सब स्नेह सम्मान और यशों से ऊपर उठे हुए सच्चे–सुच्चे साधक को सब प्रकार से वर लेता है, अपने अद्वितीय प्यार का, अपने अनुपम दिव्य आनन्द का पात्र बनाकर इस जग के बन्धन से मुक्त कर देता है और सब प्रकार से उसको निहाल कर देता है।

प्रथम रश्मि [ii]

कदान्ववेन्त भुवानि। –ऋ० ७.८६.२

(कदा नु वरुणे अन्तः भुवानि) कब (निश्चय से) मैं वरुण में प्रविष्ट हूँगा ? कब मैं वरणीय वरुण देव में भीतर घुस पाऊँगा ? न जाने कब मैं उस वरणीय वरुण देव को समझ पाऊँगा ? न जाने कब मैं उसको जान पाऊँगा ?

कदा शब्द का यहाँ अपना ही महत्त्व है। इसमें एक तड़प है, एक अधीरता है, एक तीव्र अनुराग है। इतना अधिक कि भक्त अब और देरी सह नहीं सकता।

एक छोटे बच्चे को हम देखते हैं जो खीर खाना चाहता है। माँ कहती है–''बेटा! मैं अभी बना देती हूँ।'' माँ ने खीर बनानी प्रारम्भ की। बच्चा अधीर होकर पूछता है–''माँ! खीर कब बनेगी ?'' माँ बोली–''बेटा! अभी थोड़ी देर में बन जाती है।'' ज़ल्दी ही बच्चा फिर कहता है–''माँ! अब तो बहुत देर हो गई है। अभी भी खीर नहीं बनी ?'' माँ बोली–''बेटा, बस अभी ५ मिनट में उतारती हूँ। फिर आपको डालकर देती हूँ।'' बच्चा बोला तो माँ, फिर मैं अपनी कटोरी–चम्मच ले आता हूँ। अपने लिये (थल्ला) बैठने का आसन लाकर बिछा देता है और उस पर वह बैठ कर कटोरी चम्मच अपने सामने रख लेता है। किस तड़प से, किस लगन से, किस प्यार से वह बैठा है, और चम्मच से खीर के अभाव में भी खीर उठाने और उसको खाने का वह रिहर्सल कर रहा है और अब वह कह रहा है–''माँ जी! अब तो ५ मिनट भी कब के हो गए होंगे। अब भी खीर नहीं बनी, तो फिर कब बनेगी... ?'' बच्चे का यह सारा क्रिया–कलाप देखने योग्य था और उसके वे शब्द और लहजा सुनने लायक था। खीर बनने पर माँ ने जब वह खीर परोसी और बच्चे ने जिस प्यार से वह खाई, माँ ने देखा कि खीर खाते हुए वह मुँह, हाथ, वस्त्र आदि सब लत–पथ कर रहा है। यह देखकर माँ ने उससे चम्मच लेकर उसको वह स्वयं खिलानी चाही। इससे वह बच्चा बड़ा दुःखी हुआ और यह प्रदर्शित करने

लगा कि–''माँ! तू इस रस लेने में विघ्न न डाल जैसे भी मैं खा रहा हूँ, तू मुझे खाने दे.....।''

ऐसे ही एक घर में विद्वानों, संन्यासियों का भोजन था। घर में खीर–पूरी आदि सब कुछ बना था। बच्चों ने खीर माँगी तो माता–पिता, दादी आदि बोले–''बेटा! पहले ये साधु–विद्वान् खा लें तो फिर तुमको खिलायेंगे।'' बच्चों ने सोचा–''न जाने कब ये साधु खायेंगे और न जाने कब ये उठेंगे और न जाने कब हमको खीर खाने को मिलेगी ?'' साधु आए, उन्होंने हाथ–पाँव धोए और आसनों पर विराजमान हो गए। वे खीर–पूरी आदि सब खाने लगे। बच्चों ने सोचा–''न जाने कब ये खा के उठेंगे और फिर हमको खीर खाने को मिलेगी ?'' वे अधीर होकर प्रतीक्षा करते रहे और सोचते रहे कि कब ये सब उठें और कब हमारे माता–पिता हमें बैठाएँ और हमें खीर परोसें और हम खायें।

साधु खा के निभट गए और हाथ धोने लगे। यह देखकर बच्चों की अधीरता और तड़प अपने ढंग से अभिव्यक्त होती है। उन्हें हाथ धोते हुए जब बच्चों ने देखा तो वे दादी से बोले–''दादी! वे तो फिर हाथ धो रहे हैं ?'' अर्थात् बच्चे यह कहना चाहते थे कि–''दादी माँ! जब ये खीरादि खाने बैठे ये तो तब इन्होंने हाथ–वाथ धोए थे, सो ये तो फिर हाथ धो रहे हैं। इसका अर्थ है कि ये तो पुनः खाने बैठेंगे, तो माँ फिर हमारा नम्बर कब आयेगा ? हमें खीर खाने को कब मिलेगी.....।'' माताएँ–बहिनें यह सब सुनकर हँसी और बोली–''बेटा! अब ये खीर खाने के लिये हाथ नहीं धो रहे हैं, बल्कि ये खीर खा के हाथ धो रहे हैं।''

न जाने कब खीर खाने को मिलेगी, यह जो अधीरता धीरता बच्चों के मन में खीर के लिये है, वा जो अधीरता एक कन्या में, एक वधू में अपने पति के प्रति होती है वा जो अधीरता एक पति में अपनी पत्नी के लिये होती है वा जो तड़प एक माँ में अपने पुत्र वा पुत्री के लिये होती है वा जो अधीरता एक बच्चे में अपनी माँ वा अपने पिता के प्रति होती है वा जो अधीरता एक आज़ादी के दीवाने में अपने देश की स्वतन्त्रता के प्रति होती है, उससे भी कहीं अधिक बढ़कर यह तड़प यहाँ

एक साधक में अपने वरणीय वरुण देव के प्रति होती है। अतः वह साधक कहता है कि–**''कदा नु वरुणे अन्तः भुवानि''**–न जाने कब मैं उस वरणीय वरुण देव के, न जाने कब मैं अपने प्राण प्रिय प्रभु के अन्दर प्रवेश पाऊँगा ? न जाने कब मैं उससे ओत–प्रोत होऊँगा ? ऐसे जैसे पेठा चाशनी में पड़कर, रस में पड़कर रस से ओत–प्रोत होकर सरस हो जाता है वा प्रभु की व्यवस्था में गन्ना रस से सरस बन जाता है....।

हे वरुण! तू मुझे दोषों से हटाता रहा, मैं हटता रहा। तूने संकेत दिये कि मैं अण्डा, मांस, मछली आदि सब छोड़ दूँ, तो मैंने वह सब छोड़ दिया, बीड़ी, सिग्रेट, शराब छोड़ने को कहा तो वह भी मैंने छोड़ दी, छल, कपट, झूट, झाट छोड़ देने को कहा सो वह भी छोड़ दिया, तमोगुणी खान–पान को छुड़वाया तो वह भी छोड़ दिया, जुआ खेलना छुड़वाया तो वह भी छोड़ दिया, रजोगुणी भोजनों से हटाया तो मैंने उनसे भी छुट्टी पाई–तमोगुणी–रजोगुण भोजनों को छोड़कर सीधा–सादा भोजन खाने को प्रेरित किया तो सीधा–सादा अब खा–पी लेता हूँ। इस प्रकार तेरे कहने पर मैंने सदा खाया–पीया और सादा ही पहना–ओढ़ा। गाली–गलोच, हिंसा–क्रोध आदि सब छोड़ा, पर फिर भी तूने मुझे अब तक दर्शन न दिये। न जाने कब और कैसे तू मुझे दर्शन देगा, यह मैं समझ नहीं पा रहा हूँ।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि तेरे वेद–ज्ञानानुसार और जग में दिये हुए उदाहरणों के अनुसार एवं भीतर से तेरी प्रेरणा के अनुसार मैंने जितना अपने को धोया, जितना–जितना अपने को साफ़–सुथरा बनाया वा अपने को सच्चा–सुच्चा बनाया, अपने को स्वच्छ–पवित्र बनाया, अपने आप को धार्मिक बनाया, अपने को हितभुक्, ऋतभुक्, मितभुक् बनाया, अपने को मधुर प्रिय हितकर बनाया, उतना–उतना मुझे बाहर से इस संसार में स्नेह–सम्मान, यश–प्यार मिला और भीतर ही भीतर भी मुझे आनन्द, उत्साह और निर्भरता एवं शाबाश मिली। स्त्री, पुत्र, धन, माल भी मुझे मिला, सुख–सुविधाएँ भी मुझे मिली। परन्तु हे वरणीय वरुण देव! ये सब तो मेरा लक्ष्य नहीं था, यह सब कुछ तो मेरा उद्देश्य नहीं था, क्योंकि हे प्रभुवर! मेरी तो एक ही तड़प थी, एक ही विषय में मेरी अधीरता थी, एक ही मेरी

टीस थी, वह यह कि–**''कदा नु वरुणे अन्तः भुवानि''**–न जाने कब वे सौभाग्यशालिनी घड़ियाँ आयेंगी जब कि मैं तुझ में प्रवेश पाऊँगा ? तुझे अपने को समर्पित कर तेरे से अपने को अभिव्याप्त देखूँगा, न जाने कब तुझ मधुर रस रूप प्रभु में–तुझ मधुर चाशनी रूप प्रभु में आँवले के समान, पेठे के समान वा गुलाब जामुन के समान अपने आप को समर्पित कर तुझ से अपने को ओत–प्रोत करूँगा, सरस बनाऊँगा ? कब मैं तुझ में प्रवेश पाकर तुझको समझ पाऊँगा ? न जाने कब, न जाने कब, न जाने कब ?

हाँ, मुझे अब पता चला, मुझे अब समझ में आया, मुझे अब अनुभव हुआ कि तुझ को पाने के लिये, तुझे रस से ओत–प्रोत होकर सरस बनने के लिये आँवले वा पेठे आदि के समान मुझे अगर काँटे आदि–आदि से गोदा जायेगा तो मैं उसको सहूँगा, अर्थात् मैं संसार के सभी उतार–चढ़ाओं को, अपमानों को, तिरस्कारों को, अवहेलनाओं को, गाली–गलोजों को, कष्ट–कलेशों को, दुःख–दर्दों को मैं ऐसे सहूँगा जैसे पेठे, आँवले आदि काँटों की गोदनों को सहते हैं। गुलाब जामुन की तरह सरल बनने के लिये तले जाने आदि को भी मैं सहूँगा। फिर भी कड़वापन वा कसेलापन आँवले सम मुझ में रहा तो उसको दूर करने को फिटकरी के पानी आदि में डाला जाऊँगा, तो वह सब भी सहूँगा, इसलिये कि आगे चलकर चाशनी में पड़कर तुझ अद्भुत मधुर रस रूप प्रभु में पड़कर आँवले, पेठे सम मैं भी सरस सुमधुर बनकर मैं सर्वग्राह्य बन जाऊँगा।

मुझे अब ज्ञात हुआ कि अभी तो मैं तेरे दिये हुए स्नेह प्यार में तेरे दिये हुए लाड–प्यार में, तेरे प्रदान किये हुए धन–माल में, तेरे स्नेह वश तेरे अनुग्रहवश प्रदान किये स्त्री पुत्रों में पुत्र–पोत्रों में, दुहितृ–दौहित्रों में, फल–फूलों में, खाद्य–पेयों में, मकान–दुकानों में, भूमि भवनों में, कार–कोठियों में, कपड़े–लत्तों में, बूट–सूटों में, नाच–गानों में, खेल–तमाशों में उलझा पड़ा हूँ, तभी तो मैं तुझ को पहचान न पाया मैं तेरे प्रति अपने को पूर्णतया समर्पित नहीं कर पाया, मैं तुझ को समझ नहीं पाया।

मैंने एक बच्चे को देखा कि वह रोया। उसने माँ को पुकारा।

माँ ने उसकी पुकार सुनी, उसको ज़रा–सा प्यार दिया, उसके सामने खेल–खिलौने आदि डाल दिये, रंग–रंगीले खेल–खिलौनों को देखकर वह खुश हुआ। उसने उनको छेड़ा–छाड़ा तो उन्होंने नाना ध्वनियों में बजते हुए उसको निहाल किया। इस तरह वह पुनः–पुनः नानाविध ढंगों से उनको हिलाता–डुलाता रहा और उनकी नानाविध ध्वनियों को सुन–सुन कर मग्न रहा।

कुछ समय बाद वह उनसे ऊब गया। उन सब से उसका जी भर गया। उसको फिर अपनी भूख अनुभव हुई और उसको फिर माँ की याद ने तड़पाया और वह फिर रोया। माँ ने फिर उसे ज़रा प्यार दिया, लड्डू–पेड़े दिये, केले–चीकू दिये, खीर आदि कुछ डाल दी। वह उसको खाने में, भोगने में लग गया। फिर कुछ देर में उन सब पदार्थों से भी वह ऊब गया, उक्ता गया। वह फिर रोया। माँ दौड़ी आई। फिर कुछ और नए खेल–खिलौने (पोते–दोहते वा चाबी से वा आटोमेटिक चलने वाले खिलौने) दिये, पर इस बार जो माँ डालती गई, वह लात मार–मार कर उन्हें परे हटाता रहा। पैरों से उन सब को परे धकेलता रहा या हाथों से उठा–उठा कर उन्हें परे फैंकता रहा। माँ बोली–''बेटा! ये दुर्लभ खिलौने हैं, फारेन–विदेश के हैं, बड़े कीमती हैं। ये सब किन्हीं बिरलों को नसीब होते हैं। (ऐसे–ऐसे स्त्री, पुत्र, धन, वैभव आदि किन्हीं विरलों को मिलते हैं) बेटा, तू बड़ा भाग्यशाली है जो तुम को ये सब प्राप्त हो रहे हैं।''

बच्चा इन सब को परे धकेलता है, इन सब से आँख, कान, मुख मून्दकर एक माँ को ही पुकारता है।

अब जब माँ यह समझ लेती है कि अब उसको सिवाए मेरे और कुछ नहीं चाहिए, तो तब उसे प्यार से वह गोद में लेकर अपना दुग्धामृत पिलाती है और बच्चा माँ की गोद में लेटकर माँ का दूध पीकर तृप्त हो जाता है। और तब वह चैन की नींद सो जाता है। सो इसी प्रकार जब मेरा जी इन सब धन–वैभवों से, इन सब स्त्री–पुत्रों से, इन सब खाद्य और पेयों से भर जायेगा वा ऊब जायेगा और मैं जब केवल तुझ वरणीय वरुण देव को ही चाहूँगा, किसी अन्य वस्तु को जब मैं देखना भी नहीं चाहूँगा, किसी अन्य चीज़ को मैं सूँघना वा खाना और छूना भी नहीं चाहूँगा, तब तू मुझे अपनायेगा और अपने समान मुझे सरस

बनायेगा।

सो हे वरणीय वरुण देव! मैं आपके कहे अनुसार अपने को बनाता जाऊँगा। जो–जो तू कहता रहेगा, वह–वह मैं करता जाऊँगा। जो–जो तू छुड़वाता जायेगा, वह–वह मैं छोड़ता जाऊँगा, जो–जो तू अपनाने को कहेगा वह–वह मैं अपनाता जाऊँगा। पर किसी तरह तू मेरी यह चाहना पूरी कर दे कि मैं तुझ में प्रवेश पा जाऊँ और आँवले वा पेठे सम तुझ में समर्पित हो जाऊँ तथा तेरे समान सरस–सुमधुर प्रिय बन जाऊँ। तू किसी भी तरह मुझ में ऐसे ओत–प्रोत हो जाए कि आँवला, पेठा आदि गौण हो जाए, मधुरता (चाशनी) रस मुख्य हो जाए। अर्थात् किसी भी तरह मैं आपको जान जाऊँ, किसी भी तरह मैं आपको पहिचान पाऊँ, किसी भी तरह मैं तेरी अद्भुत कृपा का पात्र बन जाऊँ, किसी भी तरह तू मेरा वरण कर ले, किसी भी तरह तू मुझे अपना ले, सब प्रकार से तू मुझे अपना बना ले। मैं तेरे प्यार में, तेरी भक्ति में, तेरी आराधना में इतना खो जाऊँ कि मैं अपने आपको ही भूल जाऊँ। मुझे तब ऐसा लगे कि–जित देखूं, तित तू ही तू नज़र आए। हर शे में, हर चीज़ में तू ही तू मुझे अनुभव हो। मेरा मैं ही मुझे सब तरह से भूल जाए। नाथ! न जाने कब तेरा दर्शन पाऊँगा और सब प्रकार से मैं तुझ में ऐसा खो जाऊँगा जैसे नदी समुद्र में खो जाती है, अपना नाम–रूप मिटा कर समुद्र रूप ही प्रतीत होती है। न जाने कब, न जाने कब ऐसा सौभाग्य प्राप्त होगा मेरे प्यारे वरणीय वरुण देव।

प्रत्येक को
अपनी उन्नति
से
सन्तुष्ट न
रहना चाहिये,
किन्तु
सबकी उन्नति
में अपनी
उन्नति समझनी
चाहिये।

–महर्षि दयानन्द

ऋग्वेद ओ३म् यजुर्वेद

यहाँ पर आपको मिलेगी स्वाध्याय करने के लिए वैदिक, प्रेरक, ज्ञान वर्धक, क्रान्तिकारियों की जीवनी, ऐतिहासिक एवं आध्यात्मिक PDF पुस्तकें।

डाउनलोड करने के लिए टेलीग्राम एप्लिकेशन में वैदिक पुस्तकालय (@Valdicpustakalay) सर्च करके चैनल को ज्वाइन करें।

सामवेद अथर्ववेद

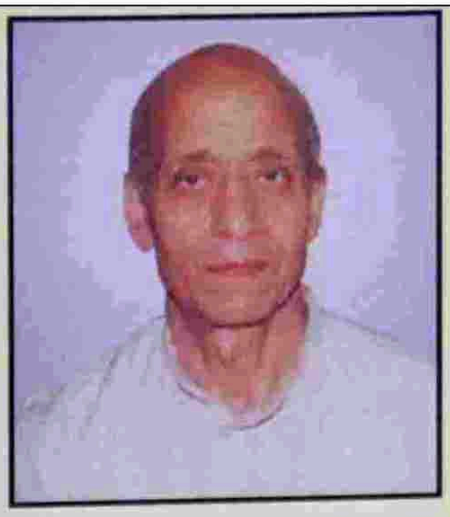

वेदरत्न

प्रो० रामप्रसाद वेदालंकार

भूतपूर्व उपकुलपति एवं कुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।

सम्मान एवं पुरस्कार

१. मरणोपरान्त बम्बई में वेदवेदाङ्ग पुरस्कार से सम्मानित ।

२. आचार्य गोवर्धन शास्त्री स्मृति पुरस्कार १९८१ से सम्मानित एवं पुरस्कृत, द्वारा संगढ़ विद्या सभा ट्रस्ट, जयपुर ।

३. आर्य साहित्य के क्षेत्र में विशिष्ट सेवाओंकेउपलक्ष्यमें सम्मानित एवं पुस्कृत (१९८३) द्वारा महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी समारोह समिति, अजमेर (राजस्थान) ।

४. वेदरत्न- (मानद उपाधि, १९८४ में। द्वारा-विश्वेदपरिषद्)।

५. शान्ति पुरस्कार से सम्मानित एव पुरस्कृत (१५.८.१९९३) द्वारा आर्यसमाज शालीमार बाग, दिल्ली

६. आर्यसमाज की सराहनीय सेवा के लिये स्वामी शिवमुनि परिव्राजक की स्मृति में सम्मानित, पुरस्कृत, द्वारा-दयानन्द सुखरानी ट्रस्ट, उमरी, कानपुर ।

७. आर्यसमाज बी.एच.ई.एल., हरिद्वार में १४.७.९९ को वेद की विशिष्ट सेवा के लिए अभि -नन्दित, पुरस्कृत ।

८. वैदिक साहित्य के प्रचार-प्रसार में विशिष्ट सेवाओं के लिये सम्मानित , पुरस्कृत ।

९. निर्धन निकेतन हरिद्वार में २९.७.९९ को सन्त सम्मेलन एवं विद्वत्सभा में वैदिक विद्वान् के रूप में अभिनन्दित, पुरस्कृत।

ऋग्वेद ओ३म् यजुर्वेद

यहाँ पर आपको मिलेगी स्वाध्याय करने के लिए वैदिक, प्रेरक, ज्ञान वर्धक , क्रान्तिकारियों की जीवनी,ऐतिहासिक एवं आध्यात्मिक PDF पुस्तकें ।

वैदिक पुस्तकालय

डाउनलोड करने के लिए टेलीग्राम एप्लिकेशन मे वैदिक पुस्तकालय (@Vaidicpustakalay)सर्च करके चैनल को ज्वाइन करें।

सामवेद अथर्ववेद